शक्तिशंखनाद

दुर्गा सप्तशती के उपाख्यान पर निबद्ध मौलिक

महाकाव्य

रचयिता

पं० लक्ष्मीचन्द्र मिश्र पौढ़-व्याकरणाचार्य काव्यतीर्थ

संस्कृताध्यापक

रामपुरिया कालेज बीकानेर

प्रचारक

नवयुग ग्रन्थ कुटीर

बीकानेर

प्रथमबार ‍१०००

मूल्य ५ ००

प्रकाशक
विवेक ग्रन्थमाला
बीकानेर

१-नवयुग ग्रन्थ कुटीर
बीकानेर

२- विवेक ग्रन्थमाला
श्री जगन्नाथ मठ (ईदगाह बारी बाहर)
बीकानेर

३-प० हरिशंकर मिश्र एम् काम,
रामपुरिया क्वार्टर न० ८
जेल कुआ, बीकानेर

मुद्रक
शेखरचन्द्र सक्सेना
एजूकेशनल प्रेस
बीकानेर

समर्पण

प्रातः स्मरणीय सर्वशास्त्रनिष्णात पूज्य पितृचरण

पण्डित गङ्गाप्रसाद मिश्र

की स्मृति में



रचयिता
प० श्री लक्ष्मीचन्द्र मिश्र
पोस्ट-व्याकरणाचार्य काव्यतीर्थ

पूर्वनिवेदन

चराचर इस विश्व का नियन्ता अचिन्त्यशक्ति भगवान् महाकाल सदा अखण्ड एकरस होते हुए भी वही भिन्न भिन्न भावों की उत्पत्ति का कारण हैं। समष्टि एवम् व्यष्टि रूप से प्राणियों के द्वारा किये जाने वाले शुभाशुभ कर्मों का फल देने के लिये उस भगवान् महाकाल की भावना में अव्यक्त रूप से जो जो भाव उत्पन्न होते हैं उनका अनुभाव (प्रभाव) उनके स्थूल शरीर इस दृश्य जगत में स्फुटित होकर प्रेम, करुणा, उत्साह, भय, क्रोध, घृणा, आश्चर्य, हास्य एवम् शान्ति के रूप में व्यक्त होने लगता है। उसी के परिणाम स्वरूप मैत्री, दया, त्याग, तपस्या आदि शुभ प्रवृत्तियों का तथा अविश्वास, छल, हिंसा, युद्ध आदि अशुभ प्रवृत्तियों का उदय होता है। इन्हीं दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को लेकर अच्छे और बुरे युग सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि आते रहते हैं।

कल्प एवम् युग भी उसी अनन्त काल के विशाल तथा वर्ष, मास, दिन, घटी, पल सूक्ष्म एवम् सूक्ष्मतम अंश कहे जाते हैं।

उक्त चारों युग अपनी अपनी प्रवृत्ति को लेकर प्रतिदिन दैनिक रूप से भी आया करते हैं। जैसे प्रत्येक प्रात काल में सत्ययुग आता है। उस समय अध्ययन, आत्मचिन्तन आदि सात्विक कार्यों को बल मिलता है। दिन में त्रेता युग आता है। उस समय रजोगुणी प्रवृत्ति के उदय होने के कारण सब प्राणी

अपने अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं। प्रत्येक सायंकाल में द्वापर की प्रवृत्ति होती है। उस समय पहले दोनों युगों की प्रवृत्तियों का ह्रास होने लगता है। रात में तमोगुण प्रधान कलियुग आया करता है। अतः उस समय निद्रा, आलस्य आदि का उदय होता है तथा चोरी आदि तामसी प्रवृत्तियों को बल मिलता है।

साहित्य जगत पर भी काल का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। किसी भी काव्य के उदय में कोई न कोई कालिक घटना निमित्त होती है। व्याध के बाण विद्ध पक्षी को देखकर ही आदिकवि के हृदय में रामायण का उदय हुआ था। इसी प्रकार कौरव-पाण्डवों के युद्ध को देखकर वेदव्यास के हृदय में महाभारत जैसे विशाल ग्रंथ का जन्म हुआ था। इस प्रस्तुत "शक्तिशङ्खनाद" महाकाव्य के गुम्फित होने में भी कारण भारतवर्ष में घटित होने वाली एक असाधारण घटना है।

विक्रमार्क सम्वत् २००० में सारे भारतवर्ष में विक्रमद्विसहस्राब्द महोत्सव मनाने की चर्चा चल रही थी। उस समय मन में आया कि महाराज विक्रमादित्य के शासन का पवित्र समय भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि का केन्द्र रहा है, अतः उस महापुरुष की इक्कीसवीं शताब्दी के शुभाभिनन्दन के पुण्य अवसर पर भारतीय संस्कृति के अनुरूप इक्कीस सर्गों का एक महाकाव्य निबद्ध करके राष्ट्र को समर्पण करना चाहिए।

अभी काव्य वस्तु का निर्णय भी नहीं हो पाया था कि भगवान् महाकाल पूर्व दिशा पर किये जाने वाले पश्चिम के अत्याचारों से कुपित हो, और हिटलर को निमित्त मात्र बनाकर युद्ध की प्रचण्ड ज्वाला में लगे भूनने सारे यूरोप को। भारतीय विदेशी शासकों ने अपने विस्तृत साम्राज्य को सुरक्षित

रखने के लिये शान्तिप्रिय पराधीन भारतवर्ष को भी उसी युद्ध की ज्वाला में बलात् झोंक दिया। भारत छटपटाने लगा क्योंकि वह युद्ध नहीं करना चाहता था। उसके हृदय से "भारत छोड़ो" का प्रबल शब्द निकलकर सारे देश में गूंज उठा। उस शब्द को दबाने के लिए विदेशी शासकों के अत्याचार की कोई सीमा न रही। चारों तरफ अशांति एवम् खुनी लूट के अतिरिक्त और कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता था।

दुर्गापूजा के अवकाश में बीकानेर से घर (सुलतानपुर) गया हुआ था। वहां के गावों का दशा दयनीय हो रही थी। जिस किसी को पकड़कर पुलिस पीस रही थी और अपनी जेब भर रही थी। सामूहिक दण्ड के नाम पर असह्य जुर्माने गोरे सैनिकों के साथ भारतीय क्रीतदास निर्दयता से वसूल कर रहे थे। देश के इस उत्पीड़न एवम् अपमान को देखकर हृदय क्षुब्ध होगया किन्तु उसका कोई प्रतीकार न देखकर मन में ग्लानि उत्पन्न हुई। देश की दुर्दशा को देखकर और उसके अतीत गौरव को स्मरण करके मन में यह प्रश्न उठने लगा कि यह आर्यदेश अपने स्वरूप को क्यों भूल गया? और इसकी अजेयशक्ति सुप्त क्यों है?

आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को नवरात्र का प्रथम दिन था। दुर्गा सप्तशती का पाठ करने लगा। चिरायुर महर्षि मार्कण्डेय के द्वारा कथित इस उपाख्यान में उस दिन कुछ विलक्षण शक्तिरहस्य का भान सा होने लगा। वही कोलाविध्वंसी म्लेच्छों का भारतवर्ष पर आक्रमण, वही भारतराज्य के मन्त्रियों का शत्रुपक्ष में मिल जाना। वही महाराज सुरथ का महर्षि सुमेधा से मोह का कारण पूछना तथा महर्षि के द्वारा राष्ट्रशक्ति को जाग्रत करने के उपाय के रूप में शक्ति के तीन चरित्रों का वर्णन करना जैसे मेरे हो प्रश्नों

का उत्तर देने लगे। उसी समय यह निश्चय हुआ कि "जब महर्षि मार्कण्डेय चिरायु एवम् अमर माने जाते हैं तो उनके द्वारा भारतवर्ष को दिया हुआ यह शक्तिसन्देश भी अमर है इसमें कोई सन्देह नहीं। तभी तो लाखों भारतीय इसका पाठ करते हैं। यह केवल पूजापाठ ही नहीं है वस्तुत यह राष्ट्रशक्ति के जागरण का पाठ है। इसके महत्व को देश भूल रहा है अत इस शक्ति शंखनाद को गुञ्जित करके राष्ट्र की निद्रा को दूर कर देना चाहिए।" यह इस काव्य के उदय होने का हेतु है।

दुर्गा सप्तशती और गीता भारत के कल्याणकारी मूलमन्त्र हैं। इनको हम आत्मरक्षा और आत्मशान्ति का मूलमन्त्र कह सकते हैं। दुर्गा सप्तशती हमको क्षात्रमत की शिक्षा देकर बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करने की शक्ति देती है तथा भगवद्गीता कर्तव्य पर दृढता एवम् आत्मसंयम सिखलाती है, जिससे हम अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करके उसको सुरक्षित रख सकें। इसी कारण से इन दोनों ग्रन्थों का सदा से भारत में सम्मान आदर है।

गीता पाठ से दुर्गापाठ कई गुना अधिक किया जाता है। इसका कारण यह है कि भारतीय जनता यह बहुत पहले से अनुभव करती आ रही है कि आसुरी प्रवृत्ति के दुष्ट किसी गीतापाठी से उतना नहीं डरते जितना कि किसी वीर शक्ति के पुजारी से भय मानते हैं। अतएव हमारे पूर्वज सदा से शक्ति के पुजारी रहे हैं। शक्ति पूजा भारत के प्रत्येक भाग में आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। शक्तिमहिमा का पाठ होने के कारण ही दुर्गासप्तशती के पाठकों की संख्या अधिक है। इस पाठ में शक्तिसाधना करने वाले महाराज सुरथ एवम् उनके गुरु महर्षि सुमेधा का संवाद है। यह सुरथोपाख्यान देवी भागवत में भी है। इसी उपाख्यान की भित्ति पर यह प्रस्तुत काव्य चित्रित

किया गया है।

महाराज सुरथ के इस उपाख्यान का ऐतिहासिक मूल्य पाश्चात्य दृष्टि से आँकने वाले चाहे कुछ भी आँकें किन्तु भारतीय दृष्टि से यह एक चिरन्तन सत्य इतिहास है। भारतवर्ष में सुरथ का शासन किस समय में था इसका निर्णय करना कठिन है तो भी बलिया प्रान्त में बीसों मील में फैला हुआ सुरथताल (सुरहाताल) आज भी उस राष्ट्र हितैषी की कीर्ति का स्मरण करा रहा है। "इस ताल को राजा सुरथ ने खुदवाया था" यह जनश्रुति यहां की जनता पूर्वपरम्परा से सुनाती आ रही है। इस ऐतिह्य पर विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है।

"कृत्वा मूर्ति महीमयीम्" इस दुर्गा के श्लोक में राजा सुरथ के द्वारा स्थापित की हुई भगवती की जिस मिट्टी की मूर्ति का उल्लेख है यह [illegible] देवी भी उसी ताल के पास जङ्गल में प्रसिद्ध है। इनका चित्र [illegible] अङ्क में दिया गया है। इन प्रमाणों से आज भी इस [illegible] पर प्रकाश पड़ रहा है।

मार्कण्डेयपुराण की रचना महाभारत [illegible] है क्योंकि महाभारत में जिन प्रश्नों का [illegible] हुआ है उनका [illegible] धान इस पुराण में किया गया है। इस पुराण [illegible] सप्तशती के तेरह अध्याय हैं। [illegible] नियन्त्रित करने वाली एक [illegible] है। [illegible] महासरस्वती के रूप से प्रकट [illegible] स्मरण करने से समस्त [illegible] है।

दुर्गा-सप्तशती का मूल स्रोत वेद है क्योंकि इसके तीनों चरित्रों का ध्यान ऋग्, यजु एवम् सामवेद के रूप में किया जाता है। इसमें वेदों के अनुसार ही रात्रिसूक्त और देवीसूक्त हैं। वेदों के गूढ़ उपदेशों को सुगमता से समझा देना ही पुराणों की विशेषता है। दुर्गा के तीनों चरित्रों में वस्तुत आर्यजाति को शक्ति प्राप्त करने एवम् सङ्गठित होने का एक सारगर्भित उपदेश है। शत्रुओं से देश की रक्षा किस प्रकार से की जानी चाहिए, इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न का भी इसी शक्तिरहस्य में ठोस समाधान है।

त्रिविध दु:खों से सतप्त जगत को सुख शान्ति तबतक नहीं प्राप्त हो सकती जबतक दु:ख उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर न कर दिया जाय। दु:ख देने वाला शत्रु ही होता है, चाहे वह अपने ही अन्दर रहने वाला भीतरी शत्रु मोह ममता हो, चाहे वह अपना ही अदृष्ट कोई दुष्ट हो अथवा बाहरी कोई प्रत्यक्ष शत्रु हो। किसी भी प्रबल शत्रु को दूर करने के लिये शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति के बिना कोई भी अशक्त देश, समाज अथवा व्यक्ति अपनी रक्षा नहीं कर सकता। किस प्रकार के शत्रु को दूर करने के लिये किस प्रकार की शक्ति अपेक्षित होती है और उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार की साधना करनी चाहिए, इस गूढ़ शक्तिरहस्य को ही दुर्गा-सप्तशती के तीनों चरित्रों मे ध्वनित किया गया है।

प्रथम चरित्र की भूमिका तब प्रारम्भ होती है जब महर्षि सुमेधा के सामने अपनी अपनी समस्या लेकर महाराज सुरथ और समाधि वैश्य उपस्थित होते हैं। राजा सुरथ की समस्या सारे भारतवर्ष राष्ट्र की समस्या थी क्योंकि वह भारत पर आक्रमण करने वाले कोलाविध्वंसी म्लेच्छों को भारत से निकालना चाहते थे। समाधि साहु की समस्या व्यक्तिगत थी क्योंकि अपने पुत्रों के द्वारा

तिरस्कृत होकर वह तपोवन में आया था तो भी मन को शान्ति नहीं मिल रही थी।

खोए हुए राज्य पर राजा की ममता क्यों है ? तथा तिरस्कार करने वाले पुत्रों पर भी समाधि का मोह क्यों है ? इन दोनों प्रश्नों को एक करके सुमेधा महर्षि के सामने केवल एक प्रश्न रखा जाता है कि मोह में डालने वाला कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि ने कहा कि मोह में डालने वाली एक महामाया शक्ति है। वह विद्वान और मूर्ख तथा मनुष्य एवम् पशु को एक समान मोह में डाल रही है। वही विश्व को उत्पन्न करती है और पालती है। वही कभी मोहनिद्रा में विश्व को सुला देती है। कभी वही जगा भी देती है। वह भक्ति से प्रकट होकर वरदान देती है तथा विपत्तियों को दूर करती है। वही कभी भूतल का भार हरने के लिए अवतार्ण होकर असुरों का संहार करती है। उस भगवती के तीन चरित्र सुना रहा हूँ, इनके सुनने से तुम्हारे प्रश्न का समाधान हो जायगा।

एक हजार चतुर्युगी तक ब्रह्मा ने अपने दिन भर जो सृष्टि रची थी उसको मोहनिद्रा ने प्रलय में मग्न कर दिया। उस महारात्रि ने विश्वरूप विष्णु को निद्रित कर दिया। विज्ञान का अधिष्ठाता विधाता भी सो गया। समस्त ईश्वरी शक्तियों के सुप्त हो जाने पर भी उसकी कालशक्ति भगवती महाकाली जागती रहती है। प्रलयरात्रि के अन्त में उसने ब्रह्मा को जगाया। ब्रह्मा के हृदय में परावाणी के रूप में स्वयं ईश्वरी प्रेरणा से अपौरुषेय वेद का भान हुआ। वेदज्ञान होने पर ब्रह्मा को सृष्टिरचना कर्तव्य का ज्ञान हो गया। किन्तु विश्वरूप विष्णु अभी सुप्त पड़ा था। उसको जगाने की एक कठिन समस्या थी। उसके कानों में मल एकत्र हो चुका था। उससे मधु कैटभ दानव

उत्पन्न होकर ब्रह्मा को कष्ट पहुँचा रहे थे। ब्रह्मा ने बहुत प्रयास किया किन्तु विष्णु जाग्रत नहीं हुआ। अन्त में रात्रिसूक्त से भगवती कालरात्रि की स्तुति करने लगे। वह प्रसन्न हो गयी और अपनी तामसी निद्रा को समेट लिया। विष्णु जाग गये और उन्होंने मधु कैटभों का वध करके ब्रह्मा के सृष्टिकाय को सुगम बना दिया।

इस प्रथम चरित्र का तात्पर्य यह है कि जब प्रकृति का प्रकोप होता है अथवा कोई दैवी आपत्ति विश्व पर आती है तब वह मनुष्य के ज्ञानगर्व को क्षण मात्र में चूर कर देती है। उसकी सारी चतुराई धरी रह जाती है। हजारों वर्षों का किया कराया हुआ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार की दैवी विपत्ति को दूर करने के लिए देवी शक्ति के शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। ईश्वरी प्रकोप उसकी कृपा से ही दूर होता है। अतः भौतिकवाद का घमण्ड त्याग करके विश्व को ईश्वरी कृपा रूप शक्ति को प्राप्त करने के लिये उसका स्मरण करते रहना चाहिए। प्रथम चरित्र की कथा से यही रहस्य व्यक्त होता है।

देव विषयासक्त और अकर्मण्य होकर अपने देश के सङ्गठन को भूल गये। उनकी मातृभूमि पर महिषासुर का अधिकार हो गया। उसके अत्याचारों से पीड़ित होकर देवों को अपना दोष ज्ञात हुआ और सब एकत्र हुए। उस देवसभा में ब्रह्मा ने देवताओं की दुर्दशा का वर्णन किया। विष्णु और शिव मुख्य देवों की भ्रुकुटि क्रोध से कुटिल हो गई। महिषासुर से युद्ध करने का आदेश दिया। सब देवों के शरीरों से एक शक्ति की ज्वाला निकली। यही ज्वाला संघशक्ति एक अद्भुत देवी बन गई। देवगण ने उसके हाथों में अपने अपने शस्त्र दिये। हिमवान् ने उस देवी को सिंह दिया। वह देवी महिषासुर

पर टूट पड़ी। उसने सारे असुरों का संहार कर दिया। प्रसन्न होकर देवगण उस संघशक्ति की स्तुति करने लगे।

इस मध्यम चरित्र का भाव यह है कि जब देश पर मानुषी आपत्ति आती है या कोई प्रबल शत्रु चढ़ आता है तब वहां केवल ईश्वर के स्मरण से रक्षा नहीं हो सकती। वहां महालक्ष्मी रूप संघशक्ति को जाग्रत करना पड़ता है। उस समय सारे देश को संगठित होकर देश की रक्षा करनी चाहिये। प्रबल शत्रु से देश की रक्षा करने के लिए देश को संगठित रहना चाहिये यही इस चरित्र का शक्तिरहस्य है।

नीतिशास्त्र में राष्ट्र की रक्षा के लिए तीन शक्ति बतलाई गयी है। १-मन्त्र शक्ति (अच्छे मन्त्री), २-उत्साह शक्ति, ३-प्रभाव शक्ति (सेना और कोष) इन तीनों शक्तियों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब देश संगठित हो। परस्पर ईर्ष्याद्वेष न हो तथा शासक उत्साही एवम् नीतिज्ञ हो।

उत्तम चरित्र में बतलाया गया है कि महिषासुर का वध करने के समय जो देवगण में एकता हुई थी वह संगठन पुन छिन्नभिन्न हो गया। देव पुन मूर्ख और आलसी बन गये। उनकी मूर्खता का लाभ उठा कर शुम्भ निशुम्भ दानवों ने देवदेश पर पुन अपना साम्राज्य जमा लिया। चण्ड मुण्ड दानव देवदेश में सर्वाधिक सुन्दरी कौन है? इसकी खोज में विचरने लगे। गंगा के तट पर सब देव एकत्र होकर भगवती की देवीसूक्त से प्रार्थना करने लगे। पार्वती वहां स्नान करने आई थी। उसने प्रार्थना का उद्देश्य पूछा। शिवा ने शुम्भनिशुम्भ से पीडित देवदेश की दुर्दशा बतलायी। यह सुनकर गौरी कोप से काली हो गई। उसके ललाट से काली उत्पन्न हुई। ब्रह्माणी, रुद्राणी, कौमारी, इन्द्राणी, नारसिंही, वाराही आदि देवियों ने मिलकर असुरों का अपने

बुद्धिबल एवम् शस्त्रबल से नाश कर दिया। इस चरित्र में नारीशक्ति की महिमा है और महासरस्वतीरूप बुद्धिशक्ति की प्रधानता बतलाई गई है।

देवबल और संगठन होने पर भी विद्या बुद्धि के अभाव में कोई देश अपनी रक्षा नहीं कर सकता। विदुर ने कहा है—

> एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
> बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्यात् राष्ट्रं सराजकम् ॥

धनुषधारी के द्वारा प्रयोग किया हुआ बाण कभी एक को ही मार सकता है किन्तु बुद्धिमान के द्वारा प्रयोग की हुई बुद्धि (नीति) सारे राष्ट्र एवम् राजा को भी मार सकती है।

अतः इस चरित्र में प्रज्ञा शक्ति प्राप्त करने के लिए देश को विद्योन्नति करनी चाहिये यही इस उत्तम चरित्र का सारांश है। इस चरित्र में यह भी ध्वनित किया गया है कि पुरुषशक्ति की अपेक्षा नारीशक्ति महाप्रबल है। स्त्रियों में भी वीरता के भाव जाग्रत करने चाहिये। जिससे वे अपनी और देश की रक्षा समय पर कर सकें।

इन चरित्रों पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्रकाश डाला जा सकता है किन्तु प्रस्तुत काव्य की भूमिका में उसकी आवश्यकता नहीं है।

शक्ति के चरित्रों को सुनकर महाराज सुरथ एवम् समाधि वैश्य तीन वर्ष तक तपस्या करते हैं। भगवती उनको वरदान देती है। उसकी कृपा से सुरथ भारतवर्ष को सङ्गठित करके कोलाविध्वंसियों को युद्ध में परास्त कर देते हैं। पुनः भारतवर्ष अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर लेता है। समाधि को भी आत्मज्ञान हो जाता है। इस उपाख्यान में मोह ममता आदि भीतरी शत्रुओं

और बाहरी शत्रुओं दोनों पर विजय पाने का उपाय बतलाया गया है। इसी शक्ति के रहस्य को इस काव्य में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। इस काव्य का प्रयोजन यश अथवा अर्थ नहीं है। इसका एक मात्र प्रयोजन "शिवेतरक्षतये" है। जागृत होकर देश अपने अशिव अमङ्गलकारी विचारों का परित्याग करके पुन शिव कल्याण को प्राप्त करे यही इस काव्य का उद्देश्य है।

कविकर्म किसी योग्य कवि से ही हो सकता है किन्तु मैं कवि नहीं हूँ। विशेष करके हिन्दी का। पुनरपि हिन्दी में लिखने का प्रयास इसलिए किया है कि इस शक्ति काव्य के द्वारा सारे भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा का प्रचार हो तथा अधिक से अधिक जनता चिरायुष महर्षि के इस शक्तिरहस्य को पढ़कर भारत की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने की प्रेरणा प्राप्त करे।

इस काव्य का प्रकाशन

विक्रम सम्वत् २००० के आश्विन में विजयादशमी को यह काव्य आरम्भ होकर सम्वत् २००४ के माघ की वसन्त पञ्चमी को पूर्ण हुआ था। आज विक्रमाब्द २०१५ के प्रथम दिन चैत्रीय नवरात्र म इसका प्रकाशन हो रहा है तो इसमें भगवती की वह इच्छा ही कारण है जिसने इस काव्य को लिखने के लिए मेरे हृदय में प्रेरणा दी था।

यह काव्य दस वर्ष तक मेरे पास अप्रकाशित ही पड़ा रहा। इसके प्रकाशन का मैंने प्रयास नहीं किया। यदि प्रयास करता भी तो उसमें अर्थाभाव अवश्य बाधा डालता अत भगवती की इच्छा पर ही उसे छोड़ दिया था। अब उसकी इच्छा से इसके प्रकाशन म जिन महानुभावों ने सहयोग

दिया है उनके विषय में दो शब्द लिखना यहां आवश्यक है।

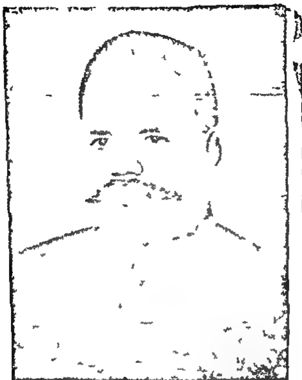
आज से डेढ़ वर्ष पहले नागौर मारवाड़ के पास गोठ मांगलोद गांव में प्रसिद्ध भगवती दधिमथी के पुण्य धाम में सहस्रचण्डी यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञ में प० चण्डीप्रसाद व्याकरण साहित्य दर्शनाचार्य प्रधानाचार्य थे। इस काव्य को देखकर आप बहुत प्रभावित हुए। इसके प्रकाशन में सहयोग देने एवम् इस काव्य का परिचय लिखने का वहां आपने वचन दिया। उसी समय से आप इसके लिये प्रयत्नशील रहे किन्तु उनका प्रयास तब सफल हुआ जब गत वसन्त पञ्चमी के दिन इस काव्य की चर्चा श्री स्वामी विवेकनाथजी महाराज के सामने चली। स्वामीजी महाराज बीकानेर में स्थित श्री नवलनाथ मठ के अधिष्ठाता हैं। विद्वत्ता के साथ साथ आप में आर्यसंस्कृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है। इस विषय में विवेक ग्रन्थमाला के रूप में अनेकों ग्रन्थ आपने लिखा और प्रकाशित किया है। निस्पृह होते हुए भी आप परोपकार में संलग्न रहते हैं। इस काव्य को देखकर आपने मुझे इसको तत्काल प्रकाशित करने के लिए उत्साहित किया और स्वयं प० चण्डीप्रसादजी को लेकर दिल्ली गये। वहां से कागजों का प्रबन्ध किया। मुद्रण का व्यय भी आपने ही वहन किया है किन्तु आपने इस ग्रन्थ को सबसे अमूल्य जो अपना शुभाशीर्वाद देने की कृपा की है इसके लिए मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ और अन्त में श्री विवेकग्रन्थमाला तथा उनके सञ्चालक तपोनिष्ठ श्री स्वामी महाराज के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट करता हूँ जिनकी सहायता से इतने व्ययसाध्य इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो सका है।

इस काव्य का परिचय लिखने एवम् अन्य सहयोग देने में पण्डित श्री चण्डीप्रसादजी ने जो सहृदयता का परिचय दिया है उसके लिए मैं उनके

प्रति पूर्ण आभार प्रकट करता हूँ।

दो मास के भीतर ही इस काव्य के मुद्रण को सम्पन्न करके एजुकेशनल प्रेस के सञ्चालक श्री वीरेन्द्रकुमारजी सक्सेना ने जो उत्साह का परिचय दिया है उसके लिए मैं उनको अनेक धन्यवाद देता हूँ।

चैत्र नवरात्र १ निवेदक
विक्रमाब्द २०१५ लक्ष्मीचन्द्र मिश्र



समीक्षक
पं० चण्डीप्रसाद शर्मा दाधीच
व्याकरण-साहित्य-दर्शनाचार्य

कवि-काव्य-परिचयः

इस महाकाव्य के रचयिता पं लक्ष्मीचन्द्रजी मिश्र व्याकरण साहित्य एवं दर्शनशास्त्र के प्रौढ विद्वान हैं। आपका जन्म आषाढ कृष्ण १ संवत् १६६१ में उत्तरप्रदेश के सुलतानपुर मण्डलान्तर्गत उच्दरणपुर ग्राम में हुआ था। आपके पिता पं श्री गंगाप्रसादजी मिश्र व्याकरण न्याय एवं वेदान्त के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे। उनके आप ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपकी विद्या पितृपरंपरागत है। आपके विचार भारतीय संस्कृति के अनुकूल राष्ट्राभ्युदयकाङ्क्षी हैं। रामपुरिया कालेज बीकानेर में आप २४ वर्षों से संस्कृताध्यापक हैं। आपके द्वारा लिखित अनेक संस्कृतशास्त्रपुस्तकें राजस्थान शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत हुई हैं। इस शक्तिशंखनाद महाकाव्य के अतिरिक्त हिन्दी में आपके द्वारा रचित "शिवाञ्जलि" भक्तिकाव्य आकार में छोटा होते हुए भी उदात्त भावों से पूर्ण है।

पराशक्तिर्दुर्धिमयी विजयते

यह "शक्तिशंखनाद" श्रीदुर्गासप्तशती के उपाख्यान पर निबद्ध एक महाकाव्य है। आद्योपान्त इस के देखने से प्रतीत होता है कि यह महाकाव्य कवि के अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुसन्धान का परिणाम है। इसके प्रत्येक प्रकरण में लेखक की सर्वशास्त्रीय मर्मज्ञता का परिचय मिलता है। महर्षि मार्कण्डेय के द्वारा उद्बोधित इस शक्तिरहस्य का भारत राष्ट्र की रक्षा के साथ

सम्बन्ध दिखलाते हुए राष्ट्रशक्ति को जाग्रत करने का यह सुन्दर प्रयत्न वास्तव में एक उचित राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति है। इतने बड़े प्रबन्ध काव्य में भी कवि ने पूर्वापर सम्बन्ध का पूर्णतः निर्वाह किया है। महाराज विक्रमादित्य की इक्कीसवीं शताब्दी की संख्या के प्रतीक स्वरूप होने के कारण इस महाकाव्य के सर्गों की इक्कीस संख्या औचित्यपूर्ण है। रात्रिसूक्त देवीसूक्त एवं अन्य महत्वपूर्ण प्रकरण कवि की प्रतिभामयी भूमिका में उतरकर देदीप्यमान हो उठे हैं और वे भगवती की महिमा का ऐसे एक साक्षात् आँखों के सामने अद्भुत चित्र सा प्रस्तुत कर देते हैं। इस महाकाव्य में दर्शन एवं राजनीति के जितने तत्त्व अन्वित हैं उनकी पृष्ठभूमि पर यदि विस्तार से विचार किया जाय तो एक विशाल ग्रन्थ का रूप बन जायगा अतः यहां कुछ दिग्दर्शन मात्र विचार किया जा रहा है।

१ प्रथम सर्ग के आदि श्लोक में शिष्टाचारानुकूल वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण के रूप में शक्तिसमन्वित समाहित शिवधाम अभय भारत को ही एकमात्र भयत्रस्त का शरण्य बतलाया गया है। द्वितीय श्लोक में अव्यक्त शब्दों से भव को भीत देखकर भगवती अपने अभयपूरित शङ्खनाद से पुनः शिवधाम को आनन्दित कर रही है, इससे ध्वनित होता है कि इस महाकाव्य का प्रयोजन राष्ट्रजागरण है। पुनः "कामरूपी पिशाच से समस्त विश्व के ग्रस्त होने पर भी भारत की शिवदृष्टि ही उससे कुशल बची हुई है" इस कवि के भाव में आर्य देश की महत्ता अभिव्यक्त हुई है। अनेक विशेषताओं के साथ हिन्दूजाति की व्यापकता एवं उसके प्राग्रूप का भी इस प्रकार चित्रण है—

पतितपुञ्ज असंख्य समा गये वस जहां जनपावन हिन्दु में।
रख नहीं सकते निज नाम भी नद समाकर विस्तृत सिंधु में ॥
उचित आसन वेदवरिष्ठ को अवनिशासन बाहुबलिष्ठ को।
धन महाजन उद्यमनिष्ठ को गुण दिये जिसने श्रमनिष्ठ को ॥

भारतीय सम्राट् सुरथ के शासन काल में भारतवर्ष का जो भव्यरूप कवि ने प्रदर्शित किया है उसमें राष्ट्र के प्राचीन वैभवशाली जीवन की वास्तविक झलक है।

२ द्वितीयसर्ग में भारत पर आक्रमण करने वाले कोलाविध्वंसियों को "म्लेच्छा पर्वतवासिन" इस देवी भगवत की उक्ति के अनुसार म्लेच्छ बतलाया गया है। उस समय म्लेच्छों से मिलकर देशद्रोह करने वाले सामन्त मन्त्रियों की उपमा उन बांसों से दी गई है जो अपने ही वंश का नाश करने के लिए दावाग्नि उत्पन्न करते हैं—

स्ववश ही करता है दवाग्नि में विनाशकारी निज वेणुवंश के ॥

विदेशी शासन को चलाने वाले राजकर्मचारियों को कवि ने कुत्तों से भी निकृष्ट बतलाया है—

लगे उसी का करने अनिष्ट वे रहे सदा से जिस देश में पले।
अनार्य ऐसे अरिदास भृत्य से कुजन्तु भी कुक्कुर हैं कहीं भले ॥

पराजित होने पर भी राजा सुरथ अपने स्वाभिमान को नहीं त्यागता है और वह मृगया का बहाना करके सुमेधा महर्षि के आश्रम में चला जाता है। वहां स्वाभिमान के विषय में यह सूक्ति अत्यन्त सुन्दर है।—

विपत्ति में बन्धु निजाभिमान है मनुष्य का रक्षक एक अन्त में ॥

३ तृतीय सर्ग में सूर्योदय के समय "आदित्यहृदयस्तोत्र" प्रकरण में अत्यन्त भावोत्पादक एवं आर्यसंस्कृति के अनुकूल है। नदी के किनारे शीतल वायु के विषय में —

जिसका है काम जगत की आंखों में धूल उड़ाना।
असहाय अवश को बल से भूतल पर नित्य गिराना॥

इस प्रकार वितर्क करते हुए सत्संगति की महिमा का वर्णन अत्यन्त रोचक है। पीपल में नारायण रहते हैं, इस विश्वास को पुष्ट करने में युक्तियुक्त विवेचन है। मध्याह्न में संकुचित होने वाली पीपल की छाया एवं स्वच्छन्द धारा के वर्णन में दो स्वभावों की व्यञ्जना है—

दिवसपति कराग्र स्पर्शों से भीत सी हो
विकल विकल छाया मूल में आरही थी।
मचल मचल आगे किन्तु धारा नदी की
प्रतिपल इठलाती कूल से जा रही थी॥

४ चतुर्थ सर्ग में मध्याह्नोत्तर का वर्णन कवि की अपनी एक नई सूझ है। भैंसें जल में अपने अनुरकुल की कालिमा को धोने के लिए हलती हैं, इस उत्प्रेक्षा के साथ 'होता नहीं विषय के अनुमान की भी होतीं निमग्न उनमें यदि दो विषाणें' इस स्वभावोक्ति से भी अधिक सुन्दर तटभूमि को खोदने वाले उक्षा (सांड) के दर्प से सारे विश्व पर सींग तानने का उत्प्रेक्षा है—

या दस जीतकर दुर्जय शत्रुओं को उन्मत्त सा अखिल भू पर सींग ताने॥

सिन्दूरलिप्त सती के चबूतरे में दम्पती के अद्वैत हृदय का दर्शन करके सती की यह प्रशस्ति अत्यन्त प्रशस्त है—

आर्ये ! सतीत्व पर हो तुम्हीं सती के सदा पवित्र इस भारत को रहोगी ।।

भारतीय नारी के सच्चे स्वरूप का चित्रण भी भारतीय परंपरा के अनुकूल है—

आचार में विनम्र श्रद्धा में मुग्धश्री आत्मा अभिन्न पति में रख देवता सी।
सन्तुष्ट नित्य करके परिवारसेवा थीं स्वर्ग वे भवन में अपने बसाती ।।

इस सर्ग में गोमहिमा एवं कृषकों के महत्व के साथ ही ग्रामीण भारतीय आदर्श पवित्र जीवन की एक झांकी मिलती है।

५ पंचमसर्ग में ब्रह्मज्ञानी का नदी पर आरोप करके उसकी ज्ञानप्राप्ति के साधनों का वर्णन आध्यात्मिक विचार से पूर्ण है। कुलपति महर्षि सुमेधा के आश्रम का तथा आर्ष जीवन का चित्रण पूर्वपरंपरा का अविकल रूप है। आचार्यपद का हेतु आचरण है, यह आचार्य की परिभाषा गुरुकुलों के लिए सम्माननीय है—

है जिसका आचार्य पूज्यपद आचरणों से
होता गुरुकुल धन्य उसी के है चरणों से ।।

६ छठे सर्ग में—राष्ट्र के अजेय होने में हेतु सुमेधा गुरु का होना तथा ब्रह्मा की तरह अपने कर्म में रत होते हुए भी चारों दिशाओं पर दृष्टि रखना, विद्वानों को जागरूक रहने का एक संकेत अथवा उचित प्रेरणा है। राजा के बाहुबल के कुण्ठित होने पर भी शत्रु का नाश करने में समर्थ बुद्धि न दूर हो

'अकुण्ठिता किन्तु रहे हमारी विपक्षध्वंसक बुद्धिशक्ति'

इस उक्ति से कवि ने देश की रक्षा का भार विद्वानों पर डाल देता है। इस सर्ग में भारतीय राज्यशासन का शास्त्रीय निरूपण है तथा मुक्तगनीति एवं द्वैतनीति का तारतम्य दिखलाते हुए राजनीति की अनेकरूपता का समर्थन है।

७ सप्तम सर्ग के आरंभ में विश्व के प्रत्येक कण एवं तृण में अशान्ति के बीज हैं, यह एक यथार्थ दृष्टिकोण है। आर्यसरोवर के एक ही जल में चार चिरंतन घाट दिखलाते हुए आर्यजाति के चार वर्णों को अभिव्यक्ति रूपक के द्वारा ध्वनित होती है। दरिद्रता के चित्रण के साथ धन से गुणों की उत्तमता में एक शिक्षाप्रद उज्ज्वल भाव प्रकट होता है।

८ अष्टम सर्ग में—

> कार्य अद्भुत सृष्टि यह किसने प्रयत्नों से सँवारी?
> क्या अलक्षित है न कोई विश्वकर्मा शिल्पकारी?

यह अनुमान से ईश्वरसिद्धि करने का प्रकार न्याय शास्त्र के अनुसार एक दार्शनिक प्रश्न का समाधान है। माया अविद्या जीव एवं ब्रह्म के संबंध में अनेक कठिन प्रश्नों का जो समाधान किया गया है उसमें समस्त वेदान्त दर्शन की छाप है।

> थे यहाँ नरसिंह पहले आज नरजम्बुक बसे हैं।
> देश में आकर तभी तो दुष्ट शूकर कपि धँसे हैं॥

इस उद्बोधन में देश की कायरता को धिक्कारते हुए पुनः भारतीयों को सिंह के गुण ग्रहण करने का एक राष्ट्रीय सुझाव है।

९ नवम सर्ग में प्रलयकालीन मोहनिद्रा के अन्त में ब्रह्मा के हृदय में परावाणी का स्वय स्फुरण होना वेदों की अपौरुषेयता का एक समर्थन है। साथ ही यहा वैयाकरणों के स्फोटवाद का प्रकरण के साथ समन्वय विद्वत्ता पूर्ण है—

परावाणीमय शब्दब्रह्म रहा जो अन्तर में अवरुद्ध।
प्रयत्नों से वह बनकर वर्ण हुआ कण्ठादिक से उद्बुद्ध॥

पुन' इसी प्रकरण में शब्द एवं अर्थ के अभेद का भी सिद्धात—

'गिरा के उस गायन में शुद्ध नहीं गु ञ्जित थी भाषा कौन ?'

इस पद्य से अभिव्यक्त किया गया है।

'हजारों आँखों पर से घोर हटेगा कैसे निद्राभार ?' ब्रह्मा की इस चिन्ता में एक अत्यन्त गूढ़ ध्वनि है।

१० दशम सर्ग मे देवजाति के पराजय का कारण तथा उसको ब्रह्मा के द्वारा उद्बोधन करने में देश के लिए असदिग्ध नीति का मार्ग है तथा युद्ध के अन्त में उसके भयकर परिणाम का चित्रण करके विश्व को युद्ध न करने का भी स्पष्ट सकेत किया गया है।

११ ग्यारहवें सर्ग में गणशक्तिस्वरूपिणी भगवती का स्तुति में दार्शनिक भाव अत्यन्त उच्च हैं।

हे चण्डिके शूल कृपाण धारो।
हमें सदा पश्चिम से उबारो॥

इस प्रार्थना में देश के विचार का प्रतिनिधित्व है।

१२ बारहवें सर्ग में देश की एकता के रूप होने में कलाहीन चन्द्रमा की उपमा ठीक जचती है। जय और पराजय में केवल शक्ति का प्रबलता कारण है न कि धर्म एवं अधर्म, इस स्पष्टोक्ति में एक मार्ति है। गंगा के तट पर यज्ञ का वर्णन करते हुए पार्वतीदल के संगठन में नारीशक्ति का भव्य दर्शन मिलता है। हिमालय की प्रशंसा में—

> जीव पाता भी जहां कुछ काल में
> लाभ लेता है युगों की सभ्यता ॥

यह पद्य भारतीय संस्कृति की अमरता का द्योतक है।

१३ तेरहवें सर्ग में काली के स्वरूप का चित्रण एवं असुरों के वध का वर्णन ओजपूर्ण है।

१४ चौदहवें सर्ग में भगवती की स्तुति में—

> 'अनन्तरत्ना सुजला सुपुण्या सदान्नपूर्णा जय राष्ट्रमाता'

यह मातृभूमि का महत्वपूर्ण स्मरण है।

१५ पन्द्रहवें सर्ग में देवी की उपासना की महिमा को बुद्धि से परे बतलाते हुए विश्वास और तर्क पर युक्तियुक्त सनातन विचार व्यक्त किया गया है—

> है बुद्धि तो मानव का कशुद्धा तीनों गुणों की यह है विकार।
> विकारिणी को कब लक्ष्य होगा जो तत्व है निर्गुण निर्विकार ॥

१६ सोलहवें सर्ग में ग्रीष्म वर्षा शरद एवं हेमन्त ऋतुओं के वर्णन के साथ गुरुप एवं समाधि की तपस्या का वर्णन तथा साथ ही कालाविच्छी

दानवों से आक्रान्त भारत की दशा के चित्रण करने में कवि की प्रतिभा का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए यह एक पद्य पर्याप्त है—

ग्रीष्म दूर कर पावस आई, मेघ वारि बरसे भरपूर।
राष्ट्र के हृदय का उससे भी हो सका कठिन ताप न दूर॥

१७ सत्रहवें सर्ग में वसन्त की छटा में भगवती की स्तुति का दर्शन अभूतपूर्व कल्पना का उदाहरण है। राजा एवं पति के लक्ष्य भिन्न नहीं हैं इस शास्त्रीय गूढ़ विषय के निरूपण में ज्ञान और कर्म का व्यावहारिक समन्वय किया गया है—

है विश्व में न रहता कुछ बन्ध-हेतु
है एकमात्र ममता निज-बन्ध-हेतु॥

१८ अठारहवें सर्ग में सुमेधा के द्वारा देश के संगठन का उपदेश अत्यन्त शिक्षाप्रद है। शस्त्रों के वर्णन एवं युद्ध के प्रस्ताव में देश को वीरता का अमर संदेश है।

१९ उन्नीसवें सर्ग में सुसंगठित भारतीयों का कोलाविध्वंसियों पर आक्रमण तथा उनको देश से दूर कर देने के वर्णन में देश की संघशक्ति का एक शाश्वत स्वरूप है। भारत में घुसने वाले विदेशियों के लिए अन्त में यह चेतावनी है—

कोई भारत में मलीन धुन से जो भी घुसे घात से
आर्यों ने उनको सदा हन दिया है शस्त्रास्त्र घात से।
आये जो धर अन्य के पर यहीं स्वामी बने हैं अड़े
देखो को रिपुहार वे [illegible] रहे सूखे यहीं हैं गड़े॥

२० बीसवें सर्ग में स्वतन्त्र भारत का स्वरूप दिखलाते हुए भारतभूमि की महिमा से परिपूर्ण मधुर राष्ट्रगीत है—

जय विभासित वेदविभाकरे ! सतत शोभितशास्त्र सुधाकरे !
जय सनातन संस्कृति भास्वरे ! जननि भारतवर्ष वसुन्धरे !

२१ इक्कीसवें सर्ग में दुर्गासप्तशती को मार्कण्डेयपुराण का सार एवं आर्यशक्तिजागरण का पाठ बतलाकर काव्य के उपसंहार में कवि इस काव्य का स्वरूप बतलाता है—

यह न केवल काव्य प्रबन्ध है यह न केवल शक्तिनिबन्ध है।
यह न केवल वीरचरित्र है रुचिर भारत का यह चित्र है॥
यह न पश्चिम का रुचिवाद है विफल शुष्क यहां न विषाद है।
भगवती यह जागृतशक्ति का अभयपूरित शङ्खनिनाद है॥

अन्त में कवि अपनी कामना व्यक्त करते हुए देश को शक्ति देता है—

नृपति सुरथ जैसे वीर हों स्वाभिमानी
प्रबल रिपुदलों को शक्ति से जो भगा दें।
गुरु चतुर सुमेधा हों जनभ्रान्तिहारी
कठिन समय में जो देशनिद्रा जगा दें॥

इस काव्य में द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी स्वागता, शार्दूलविक्रीडित आदि संस्कृत छन्दों के अतिरिक्त रोला गीतिका आदि हिन्दी के छन्दों को भी स्थान दिया गया है।

शक्तिशंखनाद के प्रथम प्रकाशन में यहां काव्य के विषय में दिग्दर्शन मात्र विचार किया है। इसके द्वितीय प्रकाशन में जो कि परम निस्पृह तपस्वी पं० श्री नारायणस्वरूपजी महाराज एवम् अन्य दधिमथी भगवती के भक्तजनों के द्वारा शीघ्र ही कराया जाने वाला है उसमें समुचित विचार प्रस्तुत किया जायगा। इस प्रथम प्रकाशन में जो कुछ सहयोग मैंने दिया है उसकी सफलता का श्रेय श्री स्वामी विवेकनाथ जी महाराज को है जिनकी कृपा से इस राष्ट्रभक्तिपूर्ण शक्तिकाव्य का प्रकाशन सम्पन्न हो सका है।

चण्डीप्रसाद शर्मा
व्याकरण साहित्य दर्शनाचार्य
श्री गंगासंस्कृत विद्यालय
बीकानेर



❊ श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी विवेकनाथ जी ❊

यम नियम समाहिते शान्ते शिवपदमारुरुक्षुभिर्योगिवृन्दैरप्यभिनन्दित-योगसिद्धीनां मरुधराधीश्वरैरन्यैश्च धार्मिकजनैरर्चितचरणानां चर्चिताखिल-शास्त्राणां ब्रह्मज्ञानोज्ज्वलान्तःकरणानां श्रीनवलनाथयोगाचार्याणां प्रशिष्यैस्तथा विदित वेद वेदाङ्गनिगूढतत्त्वानां निगमागमानुकूल निज प्रौढ तर्क निरस्तसमस्त-नास्तिकतर्काणां श्रीमताम् उत्तमनाथ योगिवराणां विद्वद्वराणां शिष्यवरैः समुद्भावित श्रौतस्मार्तविवेकमार्तण्डैर्विद्वत्प्रकाण्डैः संस्कृत भारतीय संस्कृति संरक्षणतत्परैर्मनीश्वरैः श्रीविवेकनाथ योगेश्वरैः करुणापूर्णोऽयंवितीर्णो

शुभाशीर्वादः

सरस्वतीश्रुतिमहती महीयताम्

अनेक शास्त्रीय समुज्ज्वल भावों से परिपूर्ण यह "शक्तिशङ्खनाद" महाकाव्य राष्ट्र की चेतना को जागृत करते हुए साहित्यजगत में सम्मान प्राप्तकर सदैव गुञ्जित होता रहे तथा समस्त अभव्य संस्कारों को दूर कर देने वाली इसकी मङ्गलमयी ध्वनि अभय शिवधाम भारतवर्ष में शाश्वती राष्ट्रशक्ति का सतत अभ्युदय करती रहे, यही इस महाकाव्य के लिए शुभाशीर्वाद एवम् पराब्रह्मस्वरूपिणी पराशक्ति से हमारी प्रार्थना है।

भारताभ्युदयकाङ्क्षी

विवेकनाथः

श्री

महाकाव्य

शक्तिशंखनाद

प्रथम सर्ग

शिव समाहित आहितशक्ति का
सुखद शाश्वत जो सुरधाम है।
शरण एक वही भव ताप का
अभय भारत देश ललाम है॥ १॥

रणरणायित है जय हो चला
भव अशान्त असंस्कृत नाद से।
पर अनिद्र रही शिवभूमि को
भगवती तव शंखनिनाद से॥ २॥

सुन रहा यह दीन दिगन्त है
कुटिल दानवता विकराल से।
सरस एक यही शिव देश है
कुछ पुरातन पुण्य विशाल से॥ ३॥

ग्रसित होकर कालपिशाच से
मर रही यह मूर्छित सृष्टि है।
कुशल एक यही इस विश्व में
अडिग भारत की शिव दृष्टि है ॥ ४ ॥

सड़ रहे जड़ संसृति गर्त में
प्रकृति के वश निष्फल देह हैं।
सफल केवल भारतवर्ष में
चिर-सुगन्धित-कीर्ति निदेह हैं ॥ ५ ॥

रच इसी शिव भूतल भव्य को
चतुरता विधि की कृतकृत्य है।
यह नहीं अतएव विचारती
"यह चराचर-सर्ग अनित्य है" ॥ ६ ॥

हृदय में रुचती जगदीश के
यह तपोमय भूमि पवित्र है।
मुदित आकर के करता यहां
इसलिए यह चारु चरित्र है ॥ ७ ॥

सतत धर्म सनातन का जहाँ
अचल नीति अखण्डित राज्य है।
यह सकानन-सागर भूधरा
विदित आर्य धरा अविभाज्य है ॥ ८ ॥

निगम संस्कृत मानव-जन्म को
स्थिर जहाँ मिलता अपवर्ग है।
सुलभ हो चलता श्रुति मन्त्र से
वरण योग्य सनातन भर्ग है॥ ९॥

दुरित के दल को दलते जहाँ
विमल तीर्थ समागम सन्त हैं।
धरणि के कण में कण में भरा
अनघ जीवन शान्ति अनन्त है॥ १०॥

निज तथा पर में परमेश का
शुभ जहाँ समदर्शन एक है।
भ्रम निरसक भेद निरत का
विमल तत्व विचार-विवेक है॥ ११॥

भगवती अतिरोहित हो जहाँ
भुवन का करती उपकार है।
हर सदा हरते भवभीत का
विषम भी विष-मोह विकार है॥ १२॥

नृप भगीरथ की लिखती हुई
धवल कीर्ति तरंग तरंग में।
अमरसिन्धु जहाँ हिमशैल से
बह रही मिल सागर-संग में॥ १३॥

अबुध अर्भक भी जिस देश का
सह नहीं सकता अपमानता।
यह नहीं हटता ध्रुव लक्ष्य से
कठिन भी करना तप जानता॥ १४॥

प्रथित उत्तर भू अति उर्वरा
सुत जहाँ जनती यजमान है।
विचरता जिनका ऋषि-पंक्ति में
अमर-पूजित दिव्य विमान है॥ १५॥

पति-समीप अभीत चितागिन में
परख सत्य सतीत्व जहाँ सती।
चमकती चिर है पति-लोक में
अमल-सी जन-वन्द्य अरुन्धती॥ १६॥

चरण में मुनि कुम्भज के जहाँ
विनत विन्ध्य हुआ गिरि सामने।
रहित कानन राक्षस-वंश से
कर दिया पुरुषोत्तम राम ने॥ १७॥

प्रकृति-मुग्ध जहाँ व्रज-गोप का
चटुक है रमता वर वेणु से।
प्रबल भी प्रतिमल्ल पछाड़ता
सबल होकर गो-पद रेणु से॥ १८॥

मिट गया भ्रम अर्जुन का जहाँ
सुन अकर्म-कथा कुरु युद्ध में।
अजित-जन्म-जरादि अनादि भी
क्षणिक मान हुआ भव बुद्ध में ॥ १९ ॥

मनुज-मोहन मोहनदास को
प्रिय जहाँ सब धर्म अभिन्न हैं।
विविध भी यदि धेनुसमूह से
निकलता न कहीं पय भिन्न है ॥ २० ॥

अभिमत श्रुति दर्शन दीप से
जन जहाँ सब उज्ज्वल हो चले।
स्फुरित नास्तिक तर्क वितर्क के
कुमत चूर हुए सब खोखले ॥ २१ ॥

फलित गौरव से जिस देश में
विजयिनी जन-श्रुति अजेय है।
मुख नहीं रण-संमुख मोड़ना
सुयश एक यही कवि गेय है ॥ २२ ॥

कुलज उच्च जहाँ व्रत वीर का
अहित भी शरणागत रक्ष्य है।
श्रुतिनिधान जहाँ शुभ यज्ञ है
अखिल-सृष्टि लिये निज लक्ष्य है ॥ २३ ॥

पतित पुञ्ज असंख्य समा गये
बस जहां जनपावन हिन्दु में।
रख नहीं सकते निज नाम भी
नद समाकर विस्तृत सिन्धु में ॥ २४ ॥

नियम से ऋतुएँ सब आ जहाँ
प्रकृति की बनतीं अनुगामिनी।
जन-मनो रुचि दानदयावती
नियत आर्य पुरा पथ-गामिनी ॥ २५ ॥

मुनि महर्षि सुरर्षि नृपर्षि का
भवन भारतराज्य चिरायु है।
युग मलीन चले बदले कई
बदलता न यहाँ जल वायु है ॥ २६ ॥

अपरिवर्तनशील अनादि से
यह चिरन्तन आर्य निवास है।
अमित-गौरव पूर्ण अतीत की
स्मृति लिए इसका इतिहास है ॥ २७ ॥

अजर है यह संस्कृति भारती
चिर-परीक्षित हंस विवेक से।
मिट नहीं सकती खल-वर्ग के
कपट कोटि-कुचक्र अनेक से ॥ २८ ॥

जब यहाँ अरिजन्य विपत्तियाँ
न टलतीं नृप मन्दकृपाण से।
तब सुरक्षित हैं रखते इसे
कवि अकुण्ठित काव्य पुराण से ॥ २९ ॥

उचित आसन वेदवरिष्ठ को
अवनिशासन बाहुबलिष्ठ को।
धन महाजन उद्यमनिष्ठ को
गुण दिए जिसने श्रमनिष्ठ को ॥ ३० ॥

अहह ! भूल रहे उस देश को
जटित क्यों इस दानवजाल से।
यह विचार हुई मन की दशा
व्यथित लज्जित सी नत भाल से ॥ ३१ ॥

पठित सप्तशतीस्तव ने पुन
यह समुज्वल भाव जगा दिया।
"क्या नहीं इस भारतशक्ति ने
असुरभार अपार भगा दिया ?" ॥ ३२ ॥

इस चिरायुष शक्ति रहस्य से
मति हुई निज शक्ति विचारिणी।
रच रही यह भारतलेखनी
रचिति राष्ट्रसुषुप्ति निवारिणी ॥ ३३ ॥

विनय से भुव वैभव दान से
शरद से नभ वारिज हंस से।
भुवन भूषित है रहता कभी
अखिल भूतल के अवतंस से ॥ ३४ ॥

वह कभी इस भारतवर्ष में
"सुरथ" विश्रुत भूप हुआ बली।
समर में जिसके रथ शब्द से
सभय थी छिपती अरिमण्डली ॥ ३५ ॥

अतुल उज्ज्वल भी नृप चैत्र का
कुल अमूल्य हुआ उस रत्न से।
अमिट भारत का हतभाग्य भी
मिट गया जिसके शुभ यत्न से ॥ ३६ ॥

चिर-कथा उस अद्भुतकीर्ति की
कह रहा "सुरहा" यह ताल है।
सगर निर्मित सागर-सा अभी
अतिपुरातन भी सुविशाल है ॥ ३७ ॥

ललित थी उसके भुजदण्ड में
प्रबलता धरणीधर शेष की।
मिलित थी मुखमण्डल में सदा
अविरतद्युति बाल दिनेश की ॥ ३८ ॥

अनिल की क्षमता क्षिति की क्षमा
अचल की गरिमा अतिधीरता।
निहित थी उस मानवसिंह में
उदधि की अविलंघ्य गभीरता॥ ३९॥

सतत था रहता उस भूप के
शिव दयामय शान्त विमर्श में।
प्रकट था प्रलयङ्कर भी कभी
कुपित भीषण रुद्र अमर्ष में॥ ४०॥

वरुण शक्र-यमाग्नि-कुबेर की
अमित थी उसमें महिमा लसी।
वह कलानिधि कान्ति-कलाप से
विदित सर्व-जन प्रिय था शशी॥ ४१॥

वह महामख दीक्षित दक्ष भी
निरत था रहता मनु नीति में।
पर भरी चतुरानन की रही
चतुरता उस विश्वविभूति में॥ ४२॥

अतिसमृद्ध सदा धन धान्य से
सुरथ का यह भारत था भरा।
वसुमती यह भूमि सुवर्ण की
विदित थी वसुपूर्ण वसुन्धरा॥ ४४॥

पुरुष थे सुचरित्र कुलव्रती
सब महेश्वर मान्य महामति।
युवतियाँ सब की सब थीं यहाँ
गुणवती अतिरूपवती सती ॥ ४४ ॥

विभव का न कहीं पर गर्व था
पर समुन्नति मे न विषाद था।
गहनतत्त्व सुनिर्णय हेतु ही
सुखद केवल शास्त्रविवाद था ॥ ४५ ॥

ऋषि विराजित थे वन मध्य मे
उटज ही उनके गुरुधाम थे।
हवन गन्ध सुगन्धित वायु में
बटु वहीं बनते गुणधाम थे ॥ ४६ ॥

अवनि उर्वर थी कर अल्प था
भवन थे सब गोकुल से भरे।
फलित पुष्पित कानन थे सदा
अमरकानन की उपमा धरे ॥ ४७ ॥

धवल-सौध-महापथ से सजे
पुर विशाल सुशोभित भव्य थे
वसन भूषण सज्जित देव से
नर वहाँ बसते अतिसभ्य थे ॥ ४८ ॥

कुशल काव्य कला-वर शिल्प मे
नर समग्र सुशिक्षित दान्त थे।
सुभट थे अतिधीर रणाग्रणी
पर सदा रहते अतिशान्त थे॥ ४९॥

अतिथिपूजन वन्दन दान मे
अशन पान तथा परिधान मे।
निज सनातन रीति सुनीति थी
पठन शिक्षण राज्यविधान मे॥ ५०॥

अकटु वाक्य विभूषित सत्य से
हृदय दूर सदा छल घात से।
प्रखर थी पटुता व्यवहार मे
पर अदूषित नैतिकपात से॥ ५१॥

अतिविशाल जलाशय वाटिका
सुरनिकेतन सुन्दर थे बने।
स्मरण अर्चन कीर्तन थे जहाँ
रुचिर भक्तिसुधारस मे सने॥ ५२॥

सुमन चन्दन धूप सुगन्ध से
हृत वहाँ सब भौतिक ताप थे।
हरिकथा चरणामृत-पान से
विगत मानस दुःख-कलाप थे॥ ५३॥

पटह-शंखरव-श्रुतिघोष से
अशुभ दैविक था भय भागता।
क्षितिज को रखते सब शुद्ध थे
प्रकृतिकोप कदापि न जागता ॥ ४४ ॥

इस अलौकिक आत्मविकास का
यह सुधार्मिक शासन मूल था।
यह सनातनभारत आसुरी-
प्रकृति के न कभी अनुकूल था ॥ ४५ ॥

सहज आस्तिक मानवभाव में
कुमत को न कहीं अवकाश था।
अतिसभीत सदा नृपतेज से
न करता जन में तम वास था ॥ ४६ ॥

कृपण केवल थीं मधुमक्खियाँ
मधुप ही रत थे मधुपान में।
हरिण ही उस उत्तम राज्य के
विवश मुग्ध रहे कुछ गान में ॥ ४७ ॥

कपट दाम्भिकता बकजाति में
कुलविरोध रहा गृहपाल में।
कुटिल थे अहि, चञ्चल अश्व ही
निहित था भय भीरु शृगाल में ॥ ४८ ॥

प्रबल केवल थी कपिजाति में
उचित कर्म बिना फलकामना।
घृणित वायसजीवन ही रहा
अशुचि केवल संशय से सना ॥ ५९ ॥

तरु विपल्लव शून्य वनान्त में
अधिक रक्त अशोक पलाश थे।
पर विपल्लव शून्य अशोक भी
नर कदापि न रक्तपलाश थे ॥ ६० ॥

भुजग-भूषित भोगवती कहीं
अमर-सेवित थी अमरावती।
पर सदा इस भारत भूप की
रुचि अलुब्ध रही उनके प्रति ॥ ६१ ॥

वह जले सुखभोग स्वराज्य भी
यदि वहाँ निज पुण्य विनाश हो।
वह भला किसको रुचती सुधा
विषयराग जहाँ दृढ़ पाश हो ॥ ६२ ॥

जिस विशुद्ध महीतल में भरे
सुलभ सद्गुण सौख्य अपार हों।
निहित मानव के उपकार में
नृपति धार्मिक का अधिकार हो ॥ ६३ ॥

अपदलुब्ध धरापति हो जहाँ
हित करे सबका जन-मन्त्र से।
सुखित देश नहीं करता घृणा
तब कभी अपने नृपतन्त्र से॥ ६४॥

यदि नहीं नृपशासनचक्र के
दर्पित तस्कर हैं धन लूटते।
तड़पती न बुभुक्षित है प्रजा
उस न शासन से मन रूठते॥ ६५॥

रहितपक्ष सपक्ष विपक्ष से
उचित निर्णय हो नयमार्ग से।
निज कुलोचितकर्म रत प्रजा
तब नहीं टलती निजमार्ग से॥ ६६॥

हो राज्य राज्यपति-मध्य अभिन्नता सी
होवें नहीं सुखित क्यों तब देशवासी?
क्यों योग्य भूमिपति को नरमात्र जानें
क्यों लोकपाल उसको सुर वे न मानें?॥ ६७॥

सुरभित सुमनों में कुञ्ज में काननों में
पुलकित पवनों में कन्दरों में घरों में।
अतुलित उस राजा की शरच्चन्द्रशुभ्रा
दिन दिन लहराती कीर्ति थी सागरों में॥ ६८॥

कोलाविध्वंसियों का दल दलित किया राष्ट्र सारा जगाया
म्लेच्छों से ग्रस्त होते जिस नरपति ने देश को है बँचाया।
ऐसा सत्कीर्तिशाली वह सुरथ महाशक्ति का है पुजारी
श्रीमार्कण्डेय ने है यह चरित लिखा आर्ष आदर्शधारी ॥ ६६ ॥

⊙

द्वितीय सर्ग

सुदूर ही भारत पुण्यभूमि से
अकोलविध्वंसका† दस्युवंश था।
बसा हुआ पर्वतदुर्ग देश में
अनार्यता का वह एक अंश था॥ १॥

अनादि से ही उस दस्युजाति के
कपाल में रेखित थी अभव्यता।
मनुष्य के म्लेच्छ कभी कुजन्म से
मिटी कहो निर्दयता असभ्यता॥ २॥

त्रिलोक के सञ्चित पाप पुञ्ज से
विरिञ्चि ने था उनको रचा कहीं।
निवास पाती अथवा मनुष्यता
कुजातियों के कुल में कभी नहीं॥ ३॥

---

† 'कोलानिर्ध्वंसक

शरीर से भी उनके समीप में
कुगन्ध आती रहती स्वभाव से।
अशुद्ध थे भाजन वे भरे हुए
अधर्म के उग्र कहीं कुभाव से॥ ४॥

विडाल की तस्कर कर्म दक्षता
प्रगल्भता में वृक की सकक्षता।
रही खरों की उनमें अदान्तता
अशून्य थी वानर की अशान्तता॥ ५॥

रहे मदोन्मत्त महावराह-से
अदूर थे दुर्गुण के प्रवाह से।
अगम्य भी वे गिरिदुर्ग शोधते
अभेद्य भी थे चल लक्ष्य वेधते॥ ६॥

प्रसन्नता थी मृगयाविहार में
प्रवीणता अन्यधनापहार में।
कुमार्गचारी उस नीच वंश की
प्रवृत्ति थी नित्य परापकार में॥ ७॥

कुदेवपूजा बलि के विधान से
कृतार्थ थे केवल मद्यपान से।
मृगादि ही जीवन के सुवस्तु थे
खगादि भी दैनिक खाद्य वस्तु थे॥ ८॥

रहे किये संग्रह मांसराशि या
घरो घरों में, पशुचर्म थे भरे।
तथापि शूलागृह के कभी यहाँ
न सूखते आँगन रक्त से हरे ॥ ६ ॥

सहाय थे श्वान सबन्धु गीध थे
गधे सदा से उनके सुदास थे।
श्मशान के घोर पिशाच-तुल्य वे
कुदेश में ही करते निवास थे ॥ १० ॥

यथार्थ वे यद्यपि जीव पालते
अतृप्त तो भी जल छान डालते।
जला चिता जीवित जन्तु डालते
घड़ों वसा थे उनसे निकालते ॥ ११ ॥

वहाँ न था दूषित अन्तरिक्ष ही
अपेय पानीय अमेध्य ही धरा।
दिशासुरस व्याकुल पूतिगन्ध से
पहाड़ भी था उस भार से डरा ॥ १२ ॥

न एक भी था स्थल दीखता जहाँ
न भूमि हो आवृत अस्थिखण्ड से।
तथापि थे वे सुख से वहीं बसे
अरण्यचारी महिष प्रचण्ड से ॥ १३ ॥

पिशाचिनी सी मधुपान-संगिनी
कुनारियाँ थीं उनकी कुटुम्बिनी।
मदान्ध सी वे कलिरूप डोलतीं
कुटुम्बियों को कटु शब्द बोलतीं॥ १४॥

रँगे हुए कंचुक नीलरंग में
समग्र थे दुर्गुण अंग अंग में।
महामलीना मतिहीन कर्कशा
रहीं लगाती मुख केश में वसा॥ १५॥

हुई नहीं दूर दरिद्रता कभी
अशान्त पापी उनके समाज से।
मिला किसे है सुख धर्म के बिना
कुकृत्य से वैरव से कुराज से॥ १६॥

न सत्य सत्कर्म परात्मभान का
प्रकाश कोई उनमें कभी रहा।
मलीनता-दूषित चित्तवृत्ति में
विचार का अंकुरजन्म हो कहा॥ १७॥

निसर्ग से वे रिपु आर्यदेश के
विरोध में ही रहते रहे सदा।
कुचित्त में थी उनके चुभी हुई
सनातनी भारत भाग्य-संपदा॥ १८॥

कभी कभी आकर आर्यदेश में
प्रवेश का भी करते प्रयास थे।
परन्तु हो ताड़ित राजदण्ड से
चले गये तस्कर वे निराश थे ॥ १९ ॥

विचार देखा जब नीचवंश ने
अजेय है भारत युद्ध रीति से।
असाध्य भी निश्चित अर्थ सिद्धि को
सुसाध्य माना तब कूटनीति से ॥ २० ॥

लगे लुभाने उस मन्त्रिवर्ग को
सुगूढ़ थे जो रिपु भारतेश के।
कुमन्त्र से यन्त्रित वे अमात्य भी
विनाश में लग्न हुए स्वदेश के ॥ २१ ॥

अतुष्ट पृथ्वीपति से अलक्ष्य वे
विरक्ति भारी मन में लिए रहे।
समक्ष में अद्भुत राजभक्ति का
बनावटी नाटक सा किये रहे ॥ २२ ॥

अभक्त हों जो निज जन्मभूमि के
जिन्हें नहीं अप्रिय शत्रु-पक्ष हो।
अवश्य वे ही कुल के कुठार हैं
स्वदेशरक्षा जिनका न लक्ष्य हो ॥ २३ ॥

कदापि तो सम्भव है न विश्व में
समान हो सन्तति एक मूल से।
न एक ही क्या तरु का शरीर है
विचित्र सा अन्वित पुष्प शूल से ॥ २४ ॥

रहे कहीं भी गुण दोष के बिना
नहीं लिखा है विधि के विधान में।
रखा नहीं तो किस लाभ के लिए
कलंक भी एक कलानिधान में ॥ २५ ॥

स्वभाव में ही अथवा मनुष्य की
विचित्र होती कुछ चित्तवृत्ति है।
न चाहता पार्वणचन्द्र भासिनी
निशा कभी तस्कर पापवृत्ति है ॥ २६ ॥

मिलाप होना खल दस्युजाति से
द्विजाति का केवल दुःखमूल है।
स्वतन्त्रता-संस्कृति धर्म-कर्म का
विनाश होता जिससे समूल है ॥ २७ ॥

न धर्म से शासित देश में कभी
प्रसन्न होते खल राज भृत्य हैं।
अधर्म के शासन-अन्धकार में
अनेक होते जिनके कुकृत्य हैं ॥ २८ ॥

कुभृत्य को इच्छित लाभ हो कहाँ
जहाँ प्रजासंमत भूप राज्य है।
कुगुप्त नानास्थित धाय को कभी
न सूझना सूक्ष्म गति साध्य है॥ २९॥

कुभृत्य तो हैं मन में विचारते
अनीति का द्वार सदा खुला रहे।
प्रजाहितैषी नृप का न राज्य हो
अशान्ति ही सतत देश में रहे॥ ३०॥

विपक्ष के साथ कहीं परोक्ष में
यही कुमन्त्री करते कुमन्त्रणा।
"उपाय है केवल अर्थलाभ का
रहे न कोई नृप की नियन्त्रणा॥ ३१॥

प्रवृत्त थे जो इस पापकृत्य में
प्रधान थे वे सब उच्च वंश के।
स्ववंश ही कारण हैं दवाग्नि में
विनाशकारी निज वेणुवंश के॥ ३२॥

स्वपक्ष का ही भय राजपक्ष के
विघात का निश्चित एक हेतु है।
स्वचक्र का घोर कुचक्र राष्ट्र के
विनाश का सूचक धूमकेतु है॥ ३३॥

कुमन्त्र से प्रेरित राष्ट्र-सूर्य भी
मिले उसी भीषण तापचक्र में।
असार होते पर-सूर्य हैं सदा
अनेक जैसे तृण वातचक्र में ॥ ३४ ॥

यहाँ कुसंस्कार भरी अनार्यता
वहाँ महा उज्ज्वल आर्य संस्कृति।
कुलीन भी आत्मविवेक खो चले
कुसंग में केवल है अधोगति ॥ ३५ ॥

अनार्य सेवा द्विज का न कर्म है
नहीं कभी लोलुपचित्त बूझते।
खलानुगामी निजधर्म हीन को
अनार्य है आर्य समान सूझते ॥ ३६ ॥

महाबली यद्यपि दस्युमण्डली
प्रहार के लग्न रही प्रयास में।
न योग देते यदि भारतीय ही
कभी न आती वह आर्यवास में ॥ ३७ ॥

परन्तु सामन्त समूह भूप का
प्रधान आलम्बन जो अमित्र था।
रही प्रजा-तो नृप शक्ति-निर्भरा
अनर्थ का हेतु यही विचित्र था ॥ ३८ ॥

कुभृत्य-मन्त्री रिपु-वर्ग मे छिपा
अतीत से दूषित जो विचार था।
वही त्रिदोषज्वर-तुल्य राष्ट्र के
शरीर में घोर भरा विकार था ॥ ३६ ॥

अनभ्र से उत्कट वज्रपात सा
अवात से ही तरु के निपात सा।
अकाण्ड में ही अभियान शत्रु का
सवेग आरम्भ हुआ प्रवात सा ॥ ४० ॥

समग्र सेना प्रतिरोध उग्र भी
निरोधकारी रिपु का न हो सका।
न देश के रक्षण में अशक्त हो
नरेन्द्र भी आत्मकलंक धो सका ॥ ४१ ॥

स्वपक्ष की संमति शत्रुपक्ष में
सदा रही बाधक युद्ध जीत की।
महाबली रावण के सुबन्धु की
कथा किसे विस्मृत है अतीत की ॥ ४२ ॥

अनल्प भूमण्डल अल्प युद्ध से
गया चला दूषित दस्यु हस्त में।
हुई अभिव्यक्त अकीर्तिकारिणी
अयोग्यता भूपति की समस्त में ॥ ४३ ॥

प्रधान कोपाधिप वित्तलोभ से
कुचक्रकारी दल में मिला वहाँ।
अकोप था दुर्बल राजपक्ष तो
उसे जयश्री मिलती भला कहाँ ? ॥ ४४ ॥

निदेशकारी नृप-भृत्य भी भले
स्वजीविकार्थी अरि-भृत्य हो चले।
जघन्य आजीवन भृत्यकर्म है
कुलीन को भी नरता निधर्म है ॥ ४५ ॥

लगे उसी का करने अनिष्ट वे
रहे सदा से जिस देश में पले।
मलीन ऐसे अरि-दास भृत्य से
पुजन्तु भी कुक्कुर हैं कहीं भले ॥ ४६ ॥

कृतघ्नता से निजमन्त्रिवर्ग की
हुई यहाँ यद्यपि देशधर्षणा।
कुलाभिमानी नृप के विचार में
तथापि उत्पन्न हुई अमर्षणा ॥ ४७ ॥

स्वदेश में शासन अन्यदेश का
अबोध के भी मन को असह्य है।
स्वतन्त्र चाहे रहा दुःख में रहे
उसे नहीं पञ्जर किन्तु सह्य है ॥ ४८ ॥

किए अनेकों नृप ने उपाय भी
हुआ नहीं रोध विपत्तिपात का।
सहाय रस्सी जब भंग हो चुकी
निरोध हो क्यों घटकूपपात का ॥ ४९ ॥

विशेष थे चिन्तित शत्रु दस्यु भी
डरे हुए भारत के नरेश से।
"यहीं रहा जीवित राजसिंह तो
समाप्त होंगे हम आर्यदेश से" ॥ ५० ॥

अनार्य वैरी उस दस्युवर्ग का
विचार विज्ञात हुआ नृपाल को।
सुनीति के दर्पण में विवेक से
लखा स्वयं निश्चित देश काल को ॥ ५१ ॥

समर्थ है भारत किन्तु राज्य के
विधान में दूषण विद्यमान है।
स्वदोष का ही परिणाम दुःख है
कुपथ्य ही तो विष के समान है ॥ ५२ ॥

अशक्य है सम्प्रति शत्रुवेग, को
निवारना पौरुष बुद्धि योग से।
निरोध्य होती न कदापि निम्नगा
अधोमुखी साहस के प्रयोग से ॥ ५३ ॥

कहा गया है अपयान युद्ध से
अकीर्तिकारी यदि काम वीर का।
स्वकार्य सिध्यर्थ अदृश्यवास भी
तथापि है संमत मार्ग धीर का ॥ ५४ ॥

किया बहाना मृगयाविहार का
चला अकेला हय से निशान्त में।
विपत्ति में बन्धु निजाभिमान है
मनुष्य का रक्षक एक अन्त में ॥ ५५ ॥

तनुप्रकाशी विधु कृष्णपक्ष का
प्रभात में श्रीहत अस्त हो चला।
अशक्त सा भूपति मुक्त भाग्य से
अतीत का संचित गर्व खो चला ॥ ५६ ॥

उतारने दूभर भार सा लगी
निशा स्वयं ही उडु भूषणावली।
छिपी कहीं जा पति के वियोग में
पतिव्रता सी कृशदेह हो चली ॥ ५७ ॥

कुमुद्वती भी अनुरक्त सी प्रजा
अनाथ उद्विग्न सभीत हो चली।
निजानुरागी नृप चन्द्र के बिना
विपत्तिमग्ना मुख मूँद सो चली ॥ ५८ ॥

मरीच की सुन्दर [illegible] में
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में।
स्वभाव से ही [illegible] [illegible] है
[illegible] [illegible] [illegible] में ॥ ५८ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में सदा।
[illegible] [illegible] [illegible] न
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है सदा ॥ ६० ॥

अरे तुम्हें क्यों [illegible] भूमिप है
अनित्य हैं यौवन रूप सम्पदा।
यहाँ नहीं है क्षणभंगि विश्व में
विलाप संताप वियोग आपदा ॥ ६१ ॥

सगोत्र पुकार दिया कपोत ने
समग्र मिथ्या भ्रममात्र भोग हैं।
न जीव को है स्थिर सौख्य-योग ही
अवश्य होना क्षण में वियोग है ॥ ६२ ॥

तृणाग्र में देख हिमाश्रु बिन्दु को
न हो सका निर्णय भूप से यहाँ।
कहाँ कहो पीड़ित आर्यभूमि के
गिरा दृगों से यह रात के कहाँ ? ॥ ६३ ॥

वनान्त में भाग चले कुरंग भी
इसीलिए भूपति से डरे हुए।
अनेक हिंसा छल के कुभाव हैं
मनुष्य के मानस में भरे हुए॥ ६४॥

अशेष उत्सारण चन्द्र के नहीं
हुआ करों से जिम अन्धकार का।
किया उसे दूर दिनेश-दृष्टि ने
प्रताप है मूल नृपाधिकार का॥ ६५॥

प्रभात की पुष्पसुगन्ध ला सकी
नृपाल के मानस में न मिश्रता।
अमर्ष विक्षोभित वीर चित्त को
नहीं लुभाती प्रकृतिप्रमन्नता॥ ६६॥

अशान्त बोले खग, भीत मन्द सी
बही हवा, कम्पित हो चली लता।
हुआ नहीं विस्मय किन्तु भूप को
"कहीं मनस्वी भय है न मानता॥ ६७॥

स्वदुर्गविध्वंसक नागवृन्द के
यथार्थ उद्दीप्त मृगेन्द्रनाद से।
मिली उसे पूर्ण सहानुभूति सी
समान जो दुःखित था प्रमाद से॥ ६८॥

तृतीय सर्ग

रवि झाँक चला धरणी को
रमणीय अरुण अम्बर से।
मुख निरख चला प्राची का
उस, भाल तिलक सुन्दर से॥ १॥

अभिराम उदित दिनमणि से
मण्डित लख भाग उषा का।
अवलुप्त हुआ जगती से
तम संचित गर्व निशा का॥ २॥

लख किन्तु लिया भारत में
मरते जब दस्यु कुचाली।
अनुताप-सहित दिनकर ने
अविलम्ब तजी निज लाली॥ ३॥

भर भरकर मृदुल करों में
मधुरातप अमित सुधा को।
अभिषिक्त लगा करने सा
यह आर्यजननि वसुधा को ॥ ४ ॥

कुसुमान्वित पत्र-करों से
पूजनरत विश्व-पिता का।
आलोक मुकुल नयनों से
तरु निरख चले सविता का ॥ ५ ॥

क्रम क्रम से सूर अकेला
शूरों में शौर्य जगाते।
चढ़ चला अगम नभ पर भी
अपना अधिकार जमाते ॥ ६ ॥

जगती-पति देव सुरथ भी
स्थित एक रहा वन पथ में।
पथ दर्शक मित्र जगत का
जब उदय हुआ रवि रथ में ॥ ७ ॥

साञ्जलि वन्दन कर उसने
सविता को सीस नवाया।
जय मंगल मूल विनय से
स्तव सूर्य हृदय यह गाया ॥ ८ ॥

जय सहस्रांशु तिमिरारे!
जय विश्व बन्धु करुणाकर!
ज्योतिगण-नाथ विवस्वन्
जय दिन-मणि भानु दिवाकर! ॥ ९ ॥

तू जगत्-कर्म साक्षी है
तू शुभ कर्म फल दाता।
तू मोह तिमिर नाशक है
सब के घट घट का ज्ञाता ॥ १० ॥

पर दिव्य तेज को तेरे
जो ध्यान नित्य करता है।
कल्याण-मार्ग पर उसकी
मति तू प्रेरित करता है ॥ ११ ॥

तेरी किरणें पृथिवी पर
वर वारि वृष्टि करती है।
जीवन देकर जीवों के
सन्ताप सदा हरती हैं ॥ १२ ॥

आकर इस शान्त जगत में
जो जाड्य अधिक करता है।
उस दानव शीत-समय का
तू दर्प सकल हरता है ॥ १३ ॥

तब घोर निशा माया-सी
तम से मोहित है करती।
तब दिव्य ज्योति तेरी है
आलोक विश्व में भरती॥ १४॥

प्राभातिक पुण्य-समय में
कृतकृत्य तुम्हारे कर हैं।
निज कृत्य निरत जन पाते
जिनमें जागृति का वर हैं॥ १५॥

दे अर्घ्य समय पर तुमको
द्विज पाप सकल धोते हैं।
जप मन्त्र परम रवि! तेरा
जन शुद्ध हृदय होते हैं॥ १६॥

निर्मल मोह मानस में
तू ज्ञान रूप रहता है।
दुःखित निज भक्त जनों का
तू दुःख अखिल दहता है॥ १७॥

कोलाविध्वंसक दल से
दूषित यह सारी धरा है।
सन्ताप इसी कारण से
मानव में सारा भरा है॥ १८॥

हे देव! हमें वह बल दो
जिससे निज देश बचायें।
इस घोर असुर-छाया को
भारत से दूर भगायें॥ १९॥

जबतक दुर्दस्यु रहित हो
निज तन्त्र देश यह मेरा।
सुख की अभिलाषाओं को
यह तेज जला दे तेरा॥ २०॥

सहसा मन से मिट जाये
भय जीवन और निधन का।
उत्साह भरो जन-जन में
निज देश मुक्ति साधन का॥ २१॥

यह नम्र विनयकर नृप ने
आगे निज अश्व बढ़ाया।
द्विज पूज्य देव सविता से
कुछ दिव्य आत्म बल पाया॥ २२॥

जन हीन गहन कानन में
द्रुत वेग तुरग चलता है।
पर दुर्ग गहन वन-पथ का
कुछ अन्त नहीं मिलता है॥ २३॥

तप चली अचल अचला भी
हरिदश्व किरण-माला से
वह चली पवन अन्धी हो
प्रज्वलित महा ज्वाला से ॥ २४ ॥

हो रहा प्यास से मारे
अत्यन्त कुपित दिनकर है।
यह भी जलता जलता सा
चलता कुछ रुक रुककर है ॥ २५ ॥

दो याम विगत कर श्रम से
मध्याह्न समय जब आया।
रवि गगन सिन्धु के तट में
जल पान हेतु रथ लाया ॥ २६ ॥

अवसान मिला उस वन का
नृप को अविरत तब चलकर।
अञ्चल में उस कानन के
सरिता देखी अति सुन्दर ॥ २७ ॥

इस पार सघन-तरु माली
अति नील-अगम जंगल है।
उस पार सुगम अवनी में
जनपद विशाल सम-तल है ॥ २८ ॥

अनवरुद्ध युगल कूलों से
वह दौड रही जल धारा।
सुख दुख के मध्य निहित हो
जैसे जन-जीवन सारा ॥ २९ ॥

अति उन्नत एक वहां से
कुछ दूर महा भूधर था।
सिर उन्नत कर सरिता की
छवि दर्शन में तत्पर सा ॥ ३० ॥

जंगल भुज विटप उठाये
गिरि को तर्जन करता था।
यह कहकर सा मृगपति के
ध्वनि से गर्जन करता था ॥ ३१ ॥

पर-युवती की शोभा का
अवलोकन पाप महा है।
हे गिरि वर ! साधु जनों ने
इसको अति निन्द्य कहा है ॥ ३२ ॥

ऊँचे कुल से तन धन से
जन उच्च नहीं लखते हैं।
उत्तम गुण कर्म जगत में
गौरव ऊँचा रखते हैं ॥ ३३ ॥

सबसे बनकर ऊँचा तू
क्यों नीच कर्म करता है?
अविनीत! महा पापी तू
अघ से न कभी डरता है॥ ३४॥

सुनकर यह भाव मुदित सी
लतिकाएँ थीं लहराती।
अभिनन्दन कर उस वन के
चरणों में सुमन चढ़ातीं॥ ३५॥

अनुरक्त अतिथि पूजन में
फल भार विनत शाखाएँ।
संकेत रहीं करती सी
जन नित्य यहाँ पर आयें॥ ३६॥

अर्पण कर सब कुछ अपना
सुख से पर हित साधन में।
प्रस्तुत रहना यह मुनि का
व्रत एक मिला उस वन में॥ ३७॥

देखा उस उपकारी के
उपकार भरे जब तप को।
क्षण दो परिताप जगत के
सब भूल गये उस नृप को॥ ३८॥

दुःख काल वहाँ वट-तर की
सेवन कर शीतल छाया।
ला तीर निकट निज हय को
अति निर्मल नीर पिलाया ॥ ३८ ॥

उस पार उतर सरिता में
करके मज्जन अघमर्षण।
जप मन्त्र, किया पितरों का
अवनी पति ने परितर्पण ॥ ४० ॥

कर तृप्त हृदय हिम जल से
ऊपर जब दृष्टि सँभाली।
देखा उस तीर्थ पुलिन में
सुर-वृक्ष एक भुज शाली ॥ ४१ ॥

उसकी शीतल छाया में
स्थल-जीव रहे सब आते।
शाखा पर गगन विहारी
सब जीव शरण थे पाते ॥ ४२ ॥

वह तुंग शिखर, पर अपने
निर्भय था नीड रचाता।
ग्रामीण पथिक-जनता को
आतप से नित्य बचाता ॥ ४३ ॥

अप्रेम नहीं उसको था
वायस-कृकलास्-बकों से।
अत्यन्त नहीं प्रियता भी
पिक चातक मोर शुकों से॥ ४४।

लख पावन उस पीपल को
अविरत उपकार परायण।
विश्वास हुआ यह मन में
"बसते इसमें नारायण"॥ ४५॥

उस दिव्य महा सुर-तरु का
दर्शन कर शुद्ध हृदय से।
श्रद्धानत हो नृप बोला
अंकित निज भाव विनय से॥ ४६।

हे पूज्य देव-तरु! तुममें
नारायण नित्य बसे हैं।
मुनि-जन कहते हैं तेरे
पत्तों में देव लसे हैं॥ ४७॥

अश्वत्थ! कहीं तुममें जो
अपना गुण देख न पाता।
नारायण क्यों तब तुमको
अपना ही रूप बताता?॥ ४८॥

हे दिव्य वनस्पति ! अथवा
तू एक स्वयं सुरवर है।
भूतल के सब जीवों का
जो आप सदा हितकर है॥ ४६॥

कर सकता है जितना भी
उपकार किए जाता है।
न कभी किसी के प्रति तू
कुछ भेदभाव लाता है॥ ५०॥

फल अरप अधिक देता है
यह ईश कर्म वश नाना।
शुभ अशुभ कर्म करने का
करता है नित्य बहाना॥ ५१॥

जब वेद उसे कहते हैं
विश्वेश कर्म फल दाता।
कैसे तब नारायण है
सब का वह भाग्य विधाता ?॥ ५२॥

सब जीव आप के तरु से
फल एक भाँति पाते हैं।
समदृष्टि सभी पर तेरी
प्रत्यक्ष देख पाते हैं॥ ५३॥

वह सगुण ब्रह्म धरणी पर
अवतार कभी लेता है।
तब कर्मयोग-करुणा का
उपदेश तभी देता है ॥ ४४ ॥

अवतार सदा तरु तेरे
सबको पवित्र करते हैं।
रत मौन साधना में भी
कुछ दिव्य भाव धरते हैं ॥ ४५ ॥

तेरे इन रम्य दलों में
चंचलता जो रहती है।
"क्षण भी स्थिर विश्व नहीं है"
संदेश यही कहती है ॥ ४६ ॥

अधिभूत रूप से ही वो
उपकार नहीं करता है।
अधिदेव-रूप से भी तू
जन दुःख दूर करता है ॥ ४७ ॥

तेरे वट के पूजन से
दुर्दैव अशुभ हटते हैं।
उत्थित ग्रह-पाप दशा के
संकट समग्र कटते हैं ॥ ४८ ॥

धन धान्य विजय-बल मेधा
प्रजा-सन्तति-पशु-यश से।
यह आर्य देश भूषित हो
दीर्घायु ब्रह्मवर्चस से॥ ५९॥

मद-रूप असुर पापों को
भारत से दूर निकालो।
हे अमरवृक्ष! करुणा से
हमको मन भावे सँभालो॥ ६०॥

यह विनय परिक्रम करके
उस वृक्षराज के तल में।
विश्राम किया उस नृप ने
अति शान्त मृदुल भूतल में॥ ६१॥

शुभ गन्ध कुसुम गुण-ग्राही
ले अंश तुहिन शीकर का
आतिथ्य लगी करने सी
यह मन्द वायु नर वर का॥ ६२॥

सोचा नृपने इसमें क्यों
सेवा का भाव समाया?
इस चंचल प्रकृति अनिल में
याम धैर्य कहाँ से आया?॥ ६३॥

जिसका है काम जगत की
आँखों में धूल उड़ाना।
असहाय अवश को बल से
भूतल पर नित्य गिराना॥ ६४॥

जो साथ स्हीं आतप के
अत्यन्त ताप करती है।
यह वायु यहाँ शीतल हो
क्यों अन्य ताप हरती है?॥ ६५॥

इतना परिवर्तन किसकी
उत्तम सगति का फल है?
खल के सज्जन होने में
सत्संग मूल केवल है॥ ६६॥

जब सत्संगति शुभ-जल से
मन के मल धुल जाते हैं।
तब मित्र भाव करुणा के
उत्तम विचार आते हैं॥ ६७॥

इसमें सद्गुण भरने का
है श्रेय यहाँ सरिता को।
जिसके तरंग-सीकर से
पाया इस शीतलता को॥ ६८॥

हे सरिते! शुभ-नेत्रों का
है जीवन धन्य जगत में।
सिखलाती है सबको तू
उपकार-भाव भारत में ॥ ६९ ॥

होता है सफल उन्हीं का
गुण विभव विश्व में पाना।
जिनका व्रत है निज गुण से
सब को गुणवान बनाना ॥ ७० ॥

यद्यपि अगाध वारिधि में
अति अधिक नीर पूरित है।
तृषितों का किन्तु कहीं भी
उससे होता क्या हित है? ॥ ७१ ॥

तेरे इस सलिल सुधा से
प्राणी असंख्य जीते हैं।
प्यासे दिन रात यहाँ पर
निर्बाध वारि पीते हैं ॥ ७२ ॥

गौरव नीरधि से बढ़कर
है लब्ध तुझे निज-तप से।
है धन्य आम फल दाता
फल-हीन कल्प पादप से ॥ ७३ ॥

बनती जल पाकर तुझसे
यह उर्वर तीर धरा है।
सरिते! तेरे अंचल में
पय-तृण फल अन्न भरा है॥ ७४॥

रहते जिससे नर सुख हैं
पशु-वश जहाँ पलता है।
प्रत्यक्ष अहो सरिता तू
भूतल पर कल्प लता है॥ ७५॥

यह सुन्दर दिव्य नदी ने
कल कल निज शब्द सुनाया।
गुण मुग्ध निरख उस नृप को
जीवन का त्याग सिखाया॥ ७६॥

दिवसपति-कराग्र स्पर्श से भीत सी हो
विकल निकल छाया मूल में आ रही थी।
मचल मचल जैसे वैरिणी किन्तु धारा
प्रतिपल इठलाती कूल से जा रही थी॥ ७७॥

चतुर्थ सर्ग

स्वर्णिम अस्त-नभस्तल में भास्वी
भानु प्रसन्न रथ पश्चिम ले चला था।
संपूर्ण-दिवस भर का वह कर्मसाक्षी
संदेश दिवस-रति से कहने चला था ॥ १ ॥

शाखा विलीन उतरे तरु से पतत्री
आहार ले उड़ चले शिशु को खिलाने।
वन्या सतृष्ण हरिणी जल के समीप
आने लगी सलिल शावक को पिलाने ॥ २ ॥

विश्राम को समय देकर एक याम
गाय स्वयं विचरने-चरने-चली थीं।
सन्तान भी असुर की कुल-कालिमा को
भैंसें विशुद्ध करने जल में ढली थीं ॥ ३ ॥

होतीं नहीं विषय वे अनुमान का भी
होतीं निमग्न उनकी यदि दो विषाणें।
अल्पज्ञ देख उनको यह थे बताते
"कोई छिपे दनुज लेकर हैं कृपाणें ॥ ४ ॥

गंभीर-नाद कर उत्थित सा पयोद
उच्चा विशाल तट खोद लगा गिराने।
था दप्त जीतकर दुर्जय शत्रुओं को
उन्मत्त सा अखिल भू पर सींग ताने ॥ ५ ॥

अश्वत्थ-वृक्ष तल को तज मन्द मन्द
छाया चली निकट से गृह-सम्पदा सी।
आतिथ्य से विमुखता पर भी कृतज्ञ
मानी महीपति हुआ गमनाभिलाषी ॥ ६ ॥

आर्यस्वभाव नृप का लख मुग्ध सी हो
आई समीप निज लेकर वत्स धेनु।
प्रत्यक्ष मंगलमयी उस देवता की
ली प्रीति से प्रणत पावन पाद रेणु ॥ ७ ॥

रोमावली धवल पीवर चारु गात्र
आताम्र शृंग-युग भूषित भव्य भाल।
थी दर्शनीय यह एक विचित्र कान्ति
संचारिणी सुकृत-राशि महा विशाल ॥ ८ ॥

कल्याणिका सुरभि थी यह भामिनी की
सत्कर्म की सफल निश्चित अर्थ सिद्धि।
बोला कृतार्थ उसके नृप दर्शनों से
"तू धन्य! है सकल मानव की समृद्धि ॥ ९ ॥

हे पावनी जननि! जंगम-तीर्थ धेनो!
तेरा शरीर-कण भी गुण से भरा है।
स्वच्छन्द है चरण तू रखती जहाँ भी
होती वहीं सुर-पवित्र वसुन्धरा है ॥ १० ॥

आरोग्य-शान्ति कर पीकर दुग्ध तेरा
आबाल-वृद्ध नर है बल-बुद्धि पाता।
तेरे पुनीत घृत से कर यज्ञ पूर्ति
है मानता द्विज तुझे निज पूज्य माता ॥ ११ ॥

तू धेनु है धनिक का धन वृद्धिशील
है पर तू अधन जीवन का सहारा।
पाले अनाथ कितने अबला जनों को
तू ने दरिद्र-कुल को न कहाँ उबारा? ॥ १२ ॥

गोभक्ति-शुद्ध मन की कर धेनु सेवा
पूरी हुई न कब सन्तति-कामनाएँ।
गोदान पुण्य जल ने कर पाप दग्ध
हैं पातकी न कितने जलते बचाये ॥ १३ ॥

गो-पंक्ति दान कर पाकर धर्म नौका
दानी हुए न कितने भव सिन्धु पार ?
क्या श्राद्ध-धेनु लघु वत्सतरी तरी सी
देती नहीं विकट वैतरणी उतार ? ॥ १४॥

पाता न धेनु कुल से वृष जो असंख्य
होता न धन्य यह राष्ट्र कृषि प्रधान।
विश्वम्भरा न रहता अपनी धरा को
कैसे अहम करता परमात्म भान ? ॥ १५ ॥

गोपाल को सुलभ सागर दूध का है
तो भी न शान्त यदि दुर्लभ तत्र पाता।
छूता न धेनु जल गोमय हाथ से जो
क्यों पञ्चगव्य-गरिमा वह जान पाता ॥ १६।

अन्यत्र भूमि पर मानव-वंश सारा
है स्वार्थ लोभ वश यद्यपि धेनु सेवी।
किन्तु प्रशस्त इस भारत में सदा से
है धेनु आर्य-कुल की कुल पूज्य देवी ॥ १७ ॥

हैं क्रूर हिंस्र जिनमें करुणा न आती
ऐसे कृतघ्न-कुल को पय तू पिलाती।
क्यों शत्रु मित्र पर भाव समानता का ?
है एक मात्र यह मूल्य महानता का ॥ १८ ॥

आन्त्रिय की महन है वसु की सुजाता
तू धेनु है अदिति पावन रुद्र-माता।
अल्या अरध्य तुझको श्रुति मन्त्र गाते
हैं धेनु-वंश-महिमा मन को सुनाते ॥ १६ ॥

प्रात पवित्र जिसका मुख देखने से
होते अविघ्न सब दैनिक कार्य सिद्ध।
होवे न दूर हमसे वह धेनु-लक्ष्मी
होते रहें हम सदा उससे विशुद्ध ॥ २० ॥

गो-वृन्द मे सतत वास रहे हमारा
हो धेनु सेवा यह जीवन भाग सारा।
है कामना हृदय मे यह एक मेरे
पाऊँ पुन मनुज जन्म समीप तेरे ॥ २१ ॥

मेरे कुबन्धु जन जो मति-मन्दता से
हैं दस्यु वर्ग-रत देशविनाश-कारी।
कर्तव्य-बोध उनके अब चित्त में दो
हे अम्ब ! हो न निज से निज नाश भारी ॥ २२ ॥

त्यागें न आर्य अपनी महनीय नीति
आवे यहाँ न परकीय अनार्य रीति।
भूलें न आत्म-कुल-गौरव-सभ्यता को
सीखें न दस्यु कुल शील असभ्यता को ॥ २३ ॥

भाये कहीं न उनको पर वेष भाषा
हो शीघ्र दूर उनके मन से दुराशा।
बाधा विलीन कर दें परतन्त्रता की
हो भावना हृदय में निज-तन्त्रता की ॥ २४ ।

श्रद्धालु भी नृपति से वह सौरभेयी
बोली न मौन मुख से प्रतिमा समान।
सद्भाव किन्तु उसके बतला रहे थे
ले स्नेह भार युग लोचन भासमान ॥ २५ ॥

दृष्टि प्रसन्न करुणामय देवता की
है भक्त के अखिल वैभव का निधान।
हैं इष्ट देव-बल ने कितने न मेटे
दुर्दैव के कठिन अकित भी विधान ॥ २६

आरूढ धर्म पर भी वह धर्मदर्शी
अश्वाधिरूढ धरणीन्द्र चला सहर्ष।
थी साथ साथ पथ के चलती नदी भी
मानों उसे रुचित था नृप-सन्निकर्ष ॥ २७ ॥

देता हुआ पथिक को शुभ सूचना भी
वाणी मधुर उस चातक ने सुनाई।
स्वातीय बिन्दु जिसने रख एक लक्ष्य
थी प्यास अन्य जल से न कभी बुझाई ॥ २८

विख्यात बाग वह दूर मिली पुरानी
प्राचीन था रचित धाम जहाँ सती का।
सिन्दूर सिक्त उस चत्वर में छिपा था
अद्वैत सा हृदय शाश्वत दम्पती का॥ २९ ॥

नारी-समाज उसकी कर नित्य पूजा
सौभाग्य को अचल ही न रहा बनाता।
आदर्श से उस चरित्रवती सती के
नारी-चरित्र-बल भी वरदान पाता॥ ३० ॥

हो भक्ति-नम्र उसके प्रति भूप बोला
तू स्वर्ग में उचित मान सदा लहेगी।
आर्ये! सतीत्व पर ही तुम्ह सी सती के
सत्ता पवित्र इस भारत की रहेगी॥ ३१ ॥

पूजा विशेष करने उस सुव्रता की
संभार साज गृहिणी जन आ रही थीं।
जैसे विनीत सखियाँ सब शैलजा की
गौरी महेश महिमा मिल गा रही थीं॥ ३२ ॥

शालीन शील शुचि था सरल स्वभाव
थीं अंगराग कुछ भी न कहीं लगाये।
प्रत्येक सगठित थे दृढ़ अंग तो भी
सर्वांग में सहज सुन्दरता छिपाये॥ ३३ ॥

अत्यन्त दूर उनको लख कल्पना से
होती रही चकित सी कवि बुद्धि ढीली।
वे थीं तुली न उनके जिनकी तुला में
थीं नागरी युवतियाँ श्रम-हीन पीली ॥ ३४ ॥

थी एक भी न उनमें कुसुमोपमाङ्गी
कोई न थी चपल-लोचन सी कुरङ्गी।
अप्राप्त हंस-गति थी अति मन्दता की
थी अल्प भी न तनु में तनुता लता की ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्ष भी न कपि से भय मानती थीं
वे चित्र देख डरना कब जानती थीं ?
वीराङ्गना व्रतवती कुल भासिनी थीं
स्वच्छन्द भिन्नमति वे न विलासिनी थीं ॥ ३६ ॥

ऐसा नहीं रुचित था उनको स्वराज्य
हो स्तुत्य कर्म जिसमें निज लाज धोना।
थीं चाहती न अधिकार समानता का
हो न्याय-युक्त जिसमें पतिधर्म खोना ॥ ३७ ॥

आचार में विनय अञ्चल में मुख श्री
आत्मा अभिन्न पति में रख देवता सी।
संतुष्ट नित्य करके परिवार-सेवा
थीं स्वर्ग वे भवन में अपने बसाती ॥ ३८ ॥

सीमन्तिनी चरण में नत सी सती के
थी मार्ग भूमि पथ मध्य विभक्त-सीमा।
सस्याम्बरा निरखते उस उर्वरा को
धीरे धरापति चला धर अश्व धीमा ॥ ३६ ॥

निम्नोच्च भेद जगतीन्तल का छिपाते
विश्रान्ति से धवल दीख चले दिगन्त।
संपत्ति मूल यह थी जिसकी तपस्या
था हन्त ! किन्तु वह बीत रहा वसन्त ॥ ४० ॥

थे तुल्य बीज कृषि-पद्धति भी अभिन्ना
उत्पत्ति किन्तु सबकी न रही समान।
था खेत भाग्य रचना फलयोग भागी
जैसा रहा श्रमिक के श्रम का विधान ॥ ४१ ॥

देखे कुटुम्ब कृषि काट रहे कहीं हैं
कोई समेटकर हैं उसको बँधाते।
बोझे सँभाल कितने सिर से चले हैं
भारी कहीं शकट हैं उनसे भराते ॥ ४२ ॥

हैं वृद्ध लग्न खलिहान बुहारने में
वृद्धा कहीं निरत धान्य सुधारने में।
हैं पुञ्ज उच्च इस भाँति कहीं बनाये
जैसे विशाल गिरि ने सिर हों उठाये ॥ ४३ ॥

सूखे यहा अमित अन्न अभी खड़े हैं
नीचे गये बिखर मार्ग पट पड़े हैं।
भूपाल के न यह था मन मे समाता
है ग्राम राशि इतनी किस भाँति पाता ? ॥ ४४

हे धान्य-राशि ! सुख साधन तू सदा है
प्राण प्रदा प्रमुख मानव सपदा है।
जो तत्त्व विश्व हित का तुझमे कहीं है
माणिक्य मे रजत-कचन मे नहीं है ॥ ४५ ॥

हैं वृत्तियाँ सकल मानव की अपूर्णा
तू एक है कृषक की कृपि अन्नपूर्णा
आजीविका अपर भी पशु पालना है
वाणिज्य आदि सब लोक विडम्बना है ॥ ४६

ले बैल-पंक्ति कण मर्दन ना कराना
सामान्य वायु गति देख पुन ओसाना।
अन्यत्र खींच भुस ढेर कहीं लगाना
अच्छे लगे नृपति को कृपि-कर्म नाना ॥ ४७ ॥

देखा शरीर सब का रज से लिपा है
भ्रू-नेत्र-कर्ण मुख केश कहीं छिपा है।
मानो प्रचण्ड सविता न उन्हें तपाये
माँ भूमि है इसलिए उर में छुपाये ॥ ४८ ॥

प्रत्यक्ष देख करके श्रम धूलि धारी
था सोचता हृदय में नृप अद्म-चारी।
है शम्भु वेष यह यद्यपि भूति भासी
है कर्म योग रत किन्तु नहीं उदासी ॥ ४६ ॥

आगे निरालम्ब अंश पुरोहितों का
कोई यहां कृषक राशि रहा उठाता।
कोई अनाथ विकलांग निराश्रितों के
रक्षार्थ भाग कुछ शेष रहा बचाता ॥ ५० ॥

मार्ग प्रपा यति सदाव्रत धर्मशाला
तालाब कूप मठ मन्दिर पाठशाला।
दातव्य भाग इतना सब ने लगाया
जो राजकीय कर था उसको चुकाया ॥ ५१ ॥

धारी कहार चरवाह कुंभार कोरी
तक्षा तथा रजक नापित लौहकार।
जो देय था नियत वार्षिक कर्म मूल्य
रक्खा न सीरधर ने इनका उधार ॥ ५२ ॥

जो अन्न वर्षभर है श्रम से कमाता
देते हुए न उसको यदि लोभ आता।
तो भार विश्वभर का विधि ने दिया है
क्या आपही कृषक ने अथवा लिया है ? ॥ ५३ ॥

गभीर सा हृदय में यह प्रश्न आया
सारा महत्त्व उनका तब आँक पाया।
भूलोक भार कृषकों पर देख भोले
आश्चर्य मुग्ध मन में तब भूप बोले ॥ ४४ ॥

प्यारे किसान सबके तुम अन्नदाता
हे लोकपाल! सबके तुम हो विधाता।
सत्कर्म निष्ठ तुम भूतल के तपस्वी
देखा उदार मन से तुम हो मनस्वी ॥ ४५ ॥

हे स्वावलम्ब! तुम पूर्ण परिश्रमी हो
आलस्य से रहित सतत उद्यमी हो।
है काम-वृत्ति मन में न विलासिता की
पोथी कभी न पढ़ते पर दासता की ॥ ४६ ॥

हो व्यर्थ की अधिक बात नहीं बनाते
विज्ञान की विरस भी न कथा सुनाते।
निष्कर्म जीवन कदापि नहीं बिताते
जो सोचते हृदय में, करके दिखाते ॥ ४७ ॥

हो जानते न सुख चक्र कभी चलाना
या देख दीन निज को घर में छिपाना।
विश्वास देकर नहीं करते बहाना
आता नहीं धन तुला-छल से कमाना ॥ ४८ ॥

अट्टालिका गगन-चुम्बित गेह सारे
हैं विद्यमान कृषक-श्रम के सहारे।
जो देश का न भरता तुमसे खजाना
होता अशक्य यह शासन का चलाना ॥ ५६ ॥

योगी महन्त कवि चारण वेषधारी
जीते किसान पर हैं व्यवसायकारी।
कोई गहे खग किसी नभ का सहारा
है किन्तु भूमि पर ही उपलब्ध चारा ॥ ६० ॥

है शुद्ध वृत्ति कृषि भूतल मे न अन्य
है विश्व मे कृषक जीवन एक धन्य।
सिद्धान्त मान्य यह है सब से पुराना
"हो स्वावलम्ब शुचि जीवन को निभाना ॥ ६१ ॥

ग्रामीण वेष इनका यह है बताता
उद्योगशील जन को श्रम मात्र भाता।
है सत्य भाव यह मानस को लुभाता
"है ग्राम का मनुज ही सरलत्व पाता ॥ ६२ ॥

सेवा परस्पर यहाँ निज धर्म निष्ठा
है शुद्ध आचरण मात्र यहां प्रतिष्ठा।
आत्मीयता सुमति है सुविनीत भाषा
है स्नेह भाव सबमें निज-वंश का सा ॥ ६३ ॥

कैसा पवित्र यह मानव का निवास
आते जहां छल कुचक्र कभी न पास।
क्या ग्राम राज्य यह भू पर भिन्न ही है?
जैसे यहाँ नृपति शासन ही नहीं है ॥ ६४॥

रत सतत कुचक्रों में कहाँ वे कुचक्री
यह कृपि रत जीवों का कहाँ शान्त वास।
नृप चकित रहा क्यों साथ ही देश में है
घन तम रजनी का भानु का भी प्रकाश ॥ ६५ ॥

पञ्चम सर्ग

देख चला था अन्त भानु रथ अपर-गगन का
पाता है उद्योग लक्ष्य इच्छित निज मन का।
देव सुरथ भी अतिथि हो रहा था उस वन का
सहा सुलभ सौजन्य सदा सबको सज्जन का ॥ १ ॥

धूमिल था हो रहा क्षितिज गोधूलि-समय से
हुआ वृद्ध सा दिवस मन्द आतंकित भय से।
शान्त जगत पर देख तिमिर-दानव का छाना
समयोचित सा लिया मान उसने छिप जाना ॥ २ ॥

उधर जा रहा भानु अस्तगिरि के शरणों में
इधर नदी के निकट भूप गुरु के चरणों में।
दोनों की मुख-कान्ति अधिक निस्तेज हुई थी
पहले से पर कहीं अश्व गति तेज हुई थी ॥ ३ ॥

तजी खगों ने भूमि बसे आकर तरुओं पर
उचित नहीं था आस भीरु नरपति की भू पर।
देख दिवस का अन्त रहे सब मिलकर रोते
अन्धकार में पराधीन क्या सुख से सोते ?॥ ४॥

जहाँ विहंगम साधु रहे मन शोक मनाते
खल उलूक थे वहीं किन्तु आमोद मनाते।
रहे वृद्ध से कमल खिन्न सिर कहीं झुकाते
कुमुद युवक से रहे नेत्र उनको मुसकाते ॥ ५॥

पीले पीले दिनकर के कर गोप रहे थे
विधुर नलिन नलिनी नयनों को झाँप रहे थे।
धरा हुई भयभीत आर्य ललना सी काली
श्याम गगन के बदो कुपित आनन पर लाली ॥ ६॥

हुए धीर भी वृक्ष रहित छाया में सारे
दुखित खगों को देख पत्र लोचन-जल ढारे।
निज दुख में यद्यपि कठोर सज्जन होते हैं
पर विपत्ति से किन्तु द्रवित होकर रोते हैं॥ ७॥

सरिता थी बह रही एक गति से मतवाली
सरस हृदय से नहीं कभी यद्यपि थी खाली।
है ज्ञानी की दशा विश्व से कहीं निराली
सुख दुख एक समान ज्ञान से गुनने वाली ॥ ८॥

इसने निज रस-पूर चढ़े यौवन देखे थे
कुछ दिन में फिर गलित शिथिल निज तन देखे थे।
जीवन में भी कई बार उभार हुए थे
फिर सवेग कितने ही प्रबल चढ़ाव हुए थे ॥ ९ ॥

गिरि अरण्य दुर्गम्य पथ निस्तार किया था
विविध विघ्न चट्टान काट कर पार किया था।
अति अगाध भी लक्ष्य सिन्धु अवगाह लिया था
अन्तस्तल में पैठ तत्व सब थाह लिया था ॥ १० ॥

तीर्थ तीर्थ से पावन रज लेती रहती थी
पर हित में जीवन अपना अर्पण करती थी।
योगी सन्त अनेक उसे मिलते रहते थे
उसके तट पर विप्र पुराण कथा कहते थे ॥ ११ ॥

करके पर उपकार ऋणों से मुक्त हुई थी
सौंप कर्म भी प्रभु को जीवनमुक्त हुई थी।
बिना ऋणों से मुक्त हुए क्या मुक्ति सुलभ है ?
होने पर भी लेप मुक्त होना दुर्लभ है ॥ १२ ॥

वह पवित्र थी किन्तु अन्य का मल धोती थी
करके सेवा धर्म मुदित मन में होती थी।
मानव जीवन का उसने अध्ययन किया था
संसारी कटु मधुर हृदय पर भान किया था ॥ १३ ॥

लखे स्नेह साकार शुद्ध शैशव थे भोले
रहीं ज्ञात शृंगार-भरी यौवन-कल्लोलें ॥
फिर वियोग में कभी उन्हीं के अंचल गीले
वृद्ध लोभ से झुके कहीं देखे थे ढीले ॥ १४ ॥

दुस्समय थी सुन चुकी कईं जीवन गाथायें
उसे न थीं अज्ञात मूक भी मनोव्यथायें ।
आँखें कितनी लाल उगलती सी ज्वालाएँ
देख चुकी थी बन्धु रक्त से प्यास बुझाये ॥ १५ ॥

रही देखती गर्व कहीं बुद्बुद से फूले
गज जैसे उन्मत्त मोह-वश मद में भूले ।
नौकाएँ थी लगी भँवर में कष्ट समाते
हठ झुकके भी देख चुकी थी देव मनाते ॥ १६ ॥

मधुर-हास उल्लास-रचित ललना-लीलाएँ
अप्रिय विष भाषिणी कलह-रत कटु शीलाएँ ।
सरल उमा सी मुग्ध चरित्रवती बालाएँ
भीरु तरल भी थीं देखी कितनी अबलाएँ ॥ १७ ॥

अंकित पति सौभाग्य लखा था वधू भाल में
नारी का भी सफल भाग्य कुल के प्रवाल में ।
देखे थे निष्फल वसन्त भी वन्य डाल में
छिन्न वृक्ष की विधुर लताएँ ग्रीष्म-काल में ॥ १८ ॥

होते देखा ग्रस्त धर्म पापाचारों से
त्रस्त धेनु सी धरा निरत दानव भारों से।
युग युग देखा असुर-नाश था अवतारों से
रक्षित भारत आत्म सनातन संस्कारों से ॥ १९ ॥

देखे कितने जल प्रलय भूचाल घने थे
धरणी में धँस नगर क्षणों में ताल बने थे।
बसे हुए सपन्न देश भी उजड चुके थे
विभव से भूपाल कई बन बिगड चुके थे ॥ २० ॥

समय समय पर रोग महामारी थे आते
एक भाव से रंक धनी सब थे बिक जाते।
नित्य इसी के निकट रहे लाखों शव लाते
कठिन हृदय करके बान्धव थे उन्हें जलाते ॥ २१ ॥

धधक धधक कर कहीं घोर सन्ताप-ज्वाला
सुलग-सुलग कर धूम शोक बादल सा काला।
बुझ बुझ बन कर राख सती विधवा सी बाला
चिता नटी का भावनृत्य था बड़ा निराला ॥ २२ ॥

खींच खींच शव खण्ड कहीं जंबूक चबाते
कंकालों पर गीध काक थे कलह मचाते।
दूर दूर तक मुण्ड पडे थे दाँत निकाले
बिना लाभ उन सड़ों गलों को कौन सँभाले ॥ २३ ॥

कौन गिने विश्राम जहाँ कितनों ने पाये
कितनों को दी गई तिलाञ्जलि कौन गिनाये।
प्रेत भूमि में छिपे हृदयों को कौन बताये
सुनता उनकी कौन भयानक दन्तकथाएँ॥ २४॥

किन्तु नदी को जीव दशाएँ सब अवगत थीं
घृणा शोक से रहित वृत्ति उसकी संयत थी।
वह सीधी यदि रही कुटिल भी कहीं दिखाती
देश काल का ध्यान इसी से रही दिलाती॥ २५॥

देख निष्किरण भानु खगों ने जब दुख माना
उत्तरंग हो उठी निकल उनको पहिचाना।
सहसा कल कल नाद उसी के आया जल से
उससे सूचित हुए भाव कुछ ये उज्ज्वल से॥ २६॥

"है अत्यन्त विशाल काल का अन्त नहीं है
आता है दिन जहाँ रात भी निकट वहीं है।
सुख दुख से है घिरा समय सब के जीवन का
किन्तु दुःख में उचित कृत्य है यह सज्जन का॥ २७॥

नहीं कहीं भी अपनी दुर्बलता दिखलाए
रहे न ऐसा भेद शत्रु जिसमें बल पाये।
साहस-बल से गिरे हुए को उच्च उठाये
अवनत को भी उन्नति का विश्वास दिलाये॥ २८॥

अश्व बाँध जब चला नम्र वह भूपति आगे
लखा परस्पर-बैर यहाँ है पशु भी त्यागे।
आहुति का है गन्ध निकल गृह-गृह से आता
दूर-दूर से अतिथि-वृन्द को निकट बुलाता ॥ ३४ ॥

पञ्चयज्ञ से परम शुद्ध तृण रचित भवन में
ऋषि-कुटुम्ब का वास देख आया यह मन में।
ग्राम नगर से परे ज्ञान-तप के साधन में
है भारत का कुलगुरुत्व केवल कानन में ॥ ३५ ॥

सदाचार-संस्कार ब्रह्मचर्योचित शिक्षा
देते हैं सुत निर्विशेष बटु गण को भिक्षा।
अध्यापन अस्वार्थ, धर्म-रति शान्ति तितिक्षा
धन्य धन्य यह दिव्य आर्ष-जीवन की दीक्षा ॥ ३६ ॥

उपवीती, मेखली, कृताजिन दण्ड हिताशी,
निरालस्य, गुर्वग्नि देव, शुचि, सन्ध्योपासी।
ज्ञान पात्र, अश्रान्त, दान्त, संस्कृत, मितभाषी
हैं आश्रम के अति विनीत सब अन्तेवासी ॥ ३७ ॥

मुग्ध मूर्ति सी यहाँ बिना बन्धन हैं गायें
प्रेम भाव में अटल हृदय की सी श्रद्धाएँ।
आरण्यक सब जीव विचरते हैं निर्भय से
है इन पर भी स्नेह यहाँ अन्यून तनय से ॥ ३८ ॥

तृण मण्डप था एक उमी उद्यान-गर्भ में
लिपट रही थी लता उमी के छदन दर्भ में।
अभ्यन्तर था एक भाग मे कुण्ड हवन का
सकल वहाँ संभार धरा था नित्य-यजन का। ४४॥

तोय-कलश के पास लगा था मुनि का आसन
दूर दूर थे पड़े कई पावन दर्भासन।
अग्र-पीठिका पर पुस्तक रुद्राक्ष-वलय था
भूमिदेव का भव्य उटज यह देवालय था॥ ४५॥

उद्योतित सी तपोज्योति दिव्य प्रभाव से
थे गुरुवर आसीन वहाँ शान्त स्वभाव से।
चिर परिचित भी जरा देह पर थी भय-कंपित
प्रथमागत हो क्यों न देख उनको तब शंकित ? ॥ ४६॥

पुण्य पुञ्ज सा बाँध रहे थे धवल जटा से
शोभित जैसे शंभु-सीस सुर सिन्धु-छटा से।
शुभ्र भस्म से कलित उच्च था भाल अलंकृत
तुहिन शैल सा निर्झर की रेखा से अंकित॥ ४७॥

विद्या-जलधि अगाध, तर्क-कानन पञ्चानन
अखिल वेद निधि अपर भूमि-तल पर चतुरानन।
सर्व विश्व हित, पूर्ण परम उत्तम विचार से
थे मुनिवर गंभीर हृदय विज्ञान भार से॥ ४८॥

तज सकता है नहीं जिसे मानव ससारी
उस सुख का हो परित्याग जिसको सुखकारी।
हो जिसका आचार्य पूज्य पद आचरणों से
होता गुरु-कुल धन्य उसी के है चरणों से ॥ ५४॥

हुआ निकट साक्षात, गया झुक नरपति सिर से
बढ़ा हर्ष, वह मिला जिसे चाहा था चिर से।
नाम-गोत्र कह प्रयत पाणि ली रज गुरु पद की
गुरु नति केवल एक हेतु है उन्नति पद की ॥ ५५॥

प्रीति-पूर्ण मुनिवर ने नृप को वह "विजयस्व"
दिया शुभाशीर्वाद पुन बोले—"नृप, आस्व"
दिव्य दृष्टि से नृपागमन का कारण जाना
किं तु कुशल का प्रश्न वहा समयोचित माना ॥ ५६॥

पर्ण-कुटी मे मिला मान्य कुलपति से भूप
था वह युगल मिलाप परस्पर के अनुरूप।
महापुरुष का दुःख महा मानव हरते है
कम्पित भूतल भार महा दिग्गज धरते है ॥ ५७॥

असुर सदृश सारे देश म छा रहा था
अति मलिन निशा का पाप सा अन्धकार।
अखिल भुवन भासी तेज का एक मात्र
मुनि-जन मन में था किन्तु पूर्णाधिकार ॥ ५८॥

नक्षत्रावली से नभ चित्र शोभा
खद्योत भा से क्षिति-वृक्ष-माला।
थी हो रही भासित मन्द मन्द
दीप प्रभा से मुनि पर्णशाला ॥ ४ ॥

रहा समीप-स्थ कुटीर के ही
सुभाग्यशाली तरु एक शाल।
कृपावती कानन-देवता से
नियुक्त सा आश्रम रक्षपाल ॥ ५ ॥

मुनीश की दीप्त चली दयार्द्रा
नृपोन्मुखी उत्सुक सौम्य दृष्टि
हुई सुधा पूरित चन्द्रिका की
नवीन सी निर्मित एक सृष्टि ॥ ६ ॥

हुआ सुदीप्त प्रतिभा प्रभा से
प्रदीप सारस्वत दीप्यमान।
गिरा हुई नर्त्तित शुद्ध-वर्णा
द्विजेन्द्र जिह्वा पर सावधान ॥ ७ ॥

न शुष्क थे केवल ब्रह्मवादी
निरक्ष ही श्रोत्रिय वे महर्षि।
अगाध दुर्बोध नयाब्धि के भी
प्रकाण्ड थे पण्डित पारदर्शी ॥ ८ ॥

लोक-व्यवहारता में
मे थे करते तपस्या।
देते पर दूर मे [illegible]
गंभीर जगत् समस्या ॥ ९ ॥

अमूल्य भी देकर शास्त्र लेने
अधीन मे केवल थे परीक्षा।
गुरुत्व [illegible] में [illegible] था
न पात्र के [illegible] मात्र दीक्षा ॥ १० ॥

मन्वादि-परम्परा में
थे जो स्मृति के विचार।
[illegible] से गुरु [illegible]
[illegible] का शास्त्र [illegible] ॥ ११ ॥

[illegible] के [illegible] भारी
[illegible] का [illegible] तार।
[illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]
है [illegible]
है [illegible] शरीर में [illegible]
[illegible] ॥ १३ ॥

हैं आप के रक्षित राष्ट्र में क्या
अनार्य संसर्ग विहीन आर्य ?
निर्विघ्न होते उनके सभी हैं
स्वतन्त्रता पूर्वक धर्म-कार्य ? ॥ १४ ॥

क्या आप के नीति रहस्य वेत्ता
अमात्य है षड् गुण सूत्रधार ?
प्रयोग में विग्रह सन्धि के भी
गतात्म-संदेह निमर्शकार ॥ १५ ॥

सुसज्ज सेना, धन, दुर्ग आदि
है राज्य के सात सुरक्ष्य अ ग।
बली बनाती इनको सुनीति
प्रयोग हो किंतु यथा प्रसंग ॥ १६ ॥

प्रयोग में औपधि नीति के जो
न हों निभेपानुभवी समर्थ।
दुर्नैय मन्त्री रिपु तुल्य ही वे
स्वदेश का है करते अनर्थ ॥ १७ ॥

क्या साधनोपाय, सहाय, सिद्धि,
विपत् प्रतीकार, सुदेश-काल।
पञ्चाङ्ग को भी नय निर्णयार्थ
विचारते हो प्रिय भूमिपाल ! ॥ १८ ॥

नियुक्त हैं क्या नृप देश-भक्त
सुदक्ष कार्य क्षम कार्य-कर्ता ?
कुलीन सत्य व्रत शीलशाली
न चाटुकारी जन वित्त-हर्ता ? ॥ १८ ॥

नहीं कभी क्या नृप ! राज्य के हैं
विलम्ब से वेतन भृत्य पाते ?
प्रमाद से या धन लोभ से भी
न शत्रु को भेद वहीं बताते ? ॥ २० ॥

हैं शक्ति के साधन तीन ही जो
प्रभुत्व, उत्साह, सुगुप्त मन्त्र ।
क्या आप ने है इनको बनाया
स्वराज्य का शासन मूलमन्त्र ? ॥ २१ ॥

क्या युग्म आध्यात्मिक शक्ति बीज
उत्साह, प्रज्ञा बल आप में है ?
यहीं जयश्री रहती नृपों की
न सर्वदा आश्रित चाप में है ॥ २२ ॥

विचार से निश्चित कृत्य का भी
होता नहीं क्या द्रुत संविधान ?
सुकृत्य मे अल्प विलम्ब भी है
असिद्धि का एक महा निदान ॥ २४ ॥

प्रयुक्त हैं क्या पर राष्ट्र में भी
अनेक भाषा विद गुप्त चार ?
अत्यन्त भी संवृत शत्रुओं का
है ज्ञात होता जिनसे विचार ॥ २४ ॥

संवाद-दाता, कर-संग्रहीता,
अमात्य, कोषाधिप, दुर्गपाल ।
शास्ता, बलाध्यक्ष तथा पुरोधा
संयुक्त सीमा पर रक्षपाल ॥ २५ ॥

निभेद्य होते पर पक्ष से जो
ये तीर्थ हैं पञ्चदश प्रकार ।
क्या राज्य का लोचन सूक्ष्म दर्शी
है देखता भी प्रणिधि प्रचार ? ॥ २६ ॥

स्वपक्ष में पाचक, वैद्य, गान्धी,
ताम्बूल-ग्राही, निज अङ्गपाल ।
वेश्यादि अष्टादश शङ्कनीय
निपात के कारण हैं विशाल ॥ २७ ॥

क्या कृत्य वेत्ता चर गूढ़-चारी
संदिग्ध-तीर्थ-स्थल थाहते हैं ?
तडाग सा क्या इनका विशेष
अगाध अन्तस्तल गाहते हैं ? ॥ २८ ॥

क्या आप की धर्मवती सभा मे
प्रधानता लब्ध अयोग्य को है ?
अभाव से क्या गुण निज्ञता के
अलब्ध संमान सुयोग्य को है ? ॥ २९ ॥

अपूज्य ही पूजित हों जहा भी
हो पूज्य के पूजन का अभाव।
विपत्ति है नित्य वहीं दिखाती
अनीति का भीषण कुप्रभाव ॥ ३० ॥

क्या आप के पास नरेन्द्र ! कोई
कदापि ऐसे खल है न आते ?
जो अन्य के होकर कर्ण-लग्न
हैं अन्य का नाश वहीं कराते ॥ ३१ ॥

क्या भोग-तृष्णा मृगतृष्णिका सी
है आप के मानस को लुभाती ?
अनार्य शीला विषय प्रसक्ति
किसे नहीं दुर्गति मे गिराती ? ॥ ३२ ॥

आरम्भ मे ही निज शत्रुओं को
हैं युक्ति से क्या वश मे न लाते ?
क्या अन्त मे आमय सा असाध्य
प्रमाद से हैं उनको बनाते ? ॥ ३३ ॥

हो देखते क्या निज-लेप को भी
हैं शत्रु पाते जिससे प्रवेश?
क्या अल्प भी छिद्र नहीं कराता
सुपोत में भी जल का प्रवेश? ॥ ३४ ॥

जो आप की शास्त्र-जलाभिषिक्त
है शील संमार्जित शुद्ध बुद्धि।
साम्राज्य के दुस्त्यज गर्व से है
आती नहीं क्या उसमें अशुद्धि? ॥ ३५ ॥

है दुर्गुणों की निधि राज-लक्ष्मी
विख्यात है क्या इसका स्वभाव?
क्या आप के कोमल चित्त में भी
है दुर्गुणों का इसके प्रभाव? ॥ ३६ ॥

अनादि से ही इसने किया है
कृपाण धारा पर ही निवास।
इसीलिए तो इसके भरा है
सर्वाङ्ग में निष्ठुरता विलास ॥ ३७ ॥

है मद्य ने मादकता इसे दी
चाञ्चल्य सीखा कपि जाति से है।
काली निशा से तिमिरान्धता भी
अभ्यस्त मानों बहु भांति से है ॥ ३८ ॥

न देखती है तप शील विद्या
न जाति को ही पहिचानती है।
नहीं किसी के गिनती गुणों को
न धर्म को ही यह मानती है ॥ ३९ ॥

है मातुला की यह वध्य शाला
मूर्छाकरी सी विष-मञ्जरी है।
है पाप जिह्वा यह धर्म भक्षी
नागी यही मत्सर से भरी है ॥ ४० ॥

कहीं कभी है यह दृश्य होती
सन्ध्याभ्र रेखा क्षण-रागिणी सी।
है अज्ञ के मानस की नितान्त
उन्मादिनी उग्र पिशाचिनी सी ॥ ४१ ॥

सनेत्र को अन्ध यही बनाती
सकर्ण को भी बधिरानुगामी।
सहस्त को अन्य-करावलम्बी
सपाद को भी पर-कन्ध-गामी ॥ ४२ ॥

अधीत को भी मतिमन्द कामी
यही अनार्या जड़ है बनाती।
आक्रान्त को श्रीमद रोग से है
कुपथ्य की बात विशेष भाती ॥ ४३ ॥

दिवान्ध सा गर्वित सम्प्रदाय
प्रदोष को है कहता प्रभात।
न चेतता है तृण बिन्दु जैसे
अवश्य भावी अपना निपात ॥ ४४ ॥

असाधु को साधु, असत्य सत्य,
अन्याय को न्याय निहारता है।
अनर्क को धर, अमित्र को भी
अज्ञान से मित्र विचारता है ॥ ४५ ॥

अमान्य ही आर्य परम्परा का
स्वच्छन्द आहार तथा विहार।
स्वधर्मशास्त्र श्रुति का विरोधी
है उच्च होता उसका विचार ॥ ४६ ॥

प्रतारणा से इस चंचला के
है जो सदा सज्जन को बचाता।
वही सदाचार विशुद्ध भाव
क्या आप का धर्म नहीं निभाता? ॥ ४७ ॥

कुटुम्ब के रक्षण में कुटुम्बी
किसान जैसे कृषि पालने में।
क्या लग्न हैं आप उसी प्रकार
स्वदेश को नित्य सँभालने में? ॥ ४८ ॥

सुप्रेम है कोमल भी महास्त्र
यही बली है नृप को बनाता।
प्रदीप जैसे मृदु वर्तिका से
है अन्य का स्नेह सदैव पाता॥ ४६॥

क्या आप की दण्ड-कठोरता के
अन्याय से पीड़ित हैं न नेशा?
निज प्रजा पीडन-जन्य अग्नि
नृपाल को है रखती न शेष॥ ५०॥

अपक्व लेता फल वृक्ष से जो
है बीज खोता रस भी न पाता।
सुखार्त भी जीवन को प्रजा के
असह्य भारी कर है सुखाता॥ ५१॥

अन्याय से हैं कर जो बढ़ाते
अनेक हैं शुल्क सदा लगाते।
अनार्य ऐसे नृप नाम-धारी
कुलीन भी राक्षस हैं कहाते॥ ५२॥

क्यों आपके आनन चन्द्रमा को
मैं देखता हूं निशा प्रमाद?
कहें, नहीं हो यदि गोपनीय
क्या आप ने है मन में विषाद?॥ ५३॥

पर्यन्त में शान्त घनोपमान
प्रश्नान्त में मौन हुए मुनीन्द्र।
स्वकीय वृत्तान्त नितान्त दुखी
बोला विनीत स्वर से महीन्द्र ॥५४॥

महामुने! निन्दित दूषणों से
मुझे बचाता तप आप का है।
तपोनिधे! दर्शन ही तुम्हारा
त्रिकाल में बाधक पाप का है ॥५५॥

नीरोग है यद्यपि देह मेरा
भूदेव! तो भी कुशली नहीं है।
अनार्य विध्वंसक दानवों से
विलुप्त होता जब देश ही है ॥५६॥

विध्वंसकों के अभियान से ही
हैं राज्य के छिन्न समस्त अंग।
हुआ हमारे निज वर्ग के ही
कुचक्र से शासन चक्र भंग ॥५७॥

जहाँ सदा से प्रिय था प्रजा का
स्वधर्म-रक्षा रत आर्य-राज्य।
वहीं स्वधर्म-च्युत आर्य ही हैं
बुला रहे क्रूर, अनार्य राज्य ॥५८॥

मिले रहे लोलुप दस्युओं से
अनेक सामन्त विचार मूढ़ ।
न चातुरी जान सकी चरों की
कुचक्र भारी उनका सुगूढ़ ॥ ५९ ॥

न देश के संचित कोष ही को
अनर्थकारी अपना रहे हैं ।
स्वदेश को एक अनार्यता के
प्रवाह में आप बहा रहे हैं ॥ ६० ॥

सुदूर से भारत में असभ्य
निशाचरों का दल आ गया है ।
प्रकाश में ही दिन के अभीत
महानिशा का तम छा गया है ॥ ६१ ॥

अकाण्ड में ही निज-राज्य भंग
मुझे नहीं दुःखित है बनाता ।
अधर्म का धर्ममयी धरा में
प्रवेश है मानस को तपाता ॥ ६२ ॥

कहीं कुसंस्कार अनार्यता का
करे न वर्णाश्रम का विनाश ।
न हों कहीं संस्कृत भारतीय
स्वधेय भाषा तज अन्य दास ॥ ६३ ॥

न भूला जायें हम पूर्वजों की
पुरातनी निश्रुत वीर-कीर्ति।
उपाय कोई इस भाँति का हो
रहे सदा गुंजित देश-गीति॥ ६४॥

अभाग्य से संकट-काल में है
घिरी हुई घोर यहाँ निराशा।
है आप के दिव्य तपोबलों से
उद्धार की केवल एक आशा॥ ६५॥

आक्रान्त है भारत दानवों से
वृत्तान्त था यद्यपि कर्णदाही
तथापि अक्षोभ्य मुनीन्द्रभाव
हुआ तुरत ध्यान-तलावगाही॥ ६६॥

एकाग्रता से स्थिर नेत्र-तारा
अव्यग्रता में मुख पंकज श्री।
मुनीश की बुद्धि कुशाग्रता में
समा गई भारत की जयश्री॥ ६७॥

बोले पुनः, भूप! तजो निराशा
सर्वेश्वरी है सब की सहाय।
किया नहीं है क्या भूसुरों ने
स्वदेश के रक्षण का उपाय?॥ ६८॥

उत्साह से सम्प्रति आप राजन ।
करें इसी आश्रम मे निवास ।
है आप मे सत्य परार्थ-निष्ठा
अवश्य होगा सफल प्रयास ॥ ६९ ॥

न खिन्न हों तुच्छ पराजयों से
न लोक निन्दा इसमें विचारें ।
विपत्ति कालोचित-धीरता से
क्षमावती वेतस नीति धारें ॥ ७० ॥

प्रवाह का वेग प्रचण्ड भी जो
विशाल भी है तरु को गिराता ।
उसे क्षमाशील विनम्र बेंत
सुनीति से निष्फल है बनाता ॥ ७१ ॥

विना क्षमा कार्य-विनाशिनी है
अदेशकालज्ञ भुजंग-नीति ।
नीतिज्ञ को सम्मत भी नहीं है
उत्साह से अग्नि पतंग-रीति ॥ ७२ ॥

कभी दया-सत्य मृदु-स्वभावा
कदापि हिंसा-छल-घोर-रूपा ।
होती सदा है यह राजनीति
वाराङ्गना-तुल्य अनेक-रूपा ॥ ७३ ॥

प्रकार से पूर्ण मृगेन्द्र की सी
स्व नीति मेधा मुनि ने सुनाई।
नृपाल के शान्त विचार में भी
वही महा उत्तम नीति आई॥ ७४

कुलपति नृप के संवाद में सात्त्विकी सी
विगत अब हुई है यामिनी याम मात्र।
यह नृपति बना है पर्णशाला निवासी
अखिल मुनि जनों का प्रीति-समान-पात्र॥ ७५॥



सप्तम सर्ग

भवन में अथवा वन में रहे
चिर कहाँ सुख सदन शान्ति का?
प्रतिक्षण क्षरण है इस विश्व में
उग्र विलक्षण बीज अशान्ति का ॥ १ ॥

सुरथ को निज राज्य अशान्त से
प्रिय लगी यह शान्त वन-स्थली।
अलग थी न कहीं नृप-रंक की
विषम मानवता जिसमें पली ॥ २ ॥

उस विशाल तपोवन भूमि के
भुवन-भावन पावन देश में।
विमल आर्यसरोवर एक था
प्रकृति के रमणीय निवेश में ॥ ३ ॥

हृदय सा जल यद्यपि एक ही
भरित था उस आर्य तडाग में।
पर चिरन्तन चार सुघाट भी
रचित थे उसके तट भाग में ॥४॥

सतत निर्भय ये रमते वहाँ
मुदित-चित्त मराल मरालिका।
सुखित जीवन की कहते कथा
विचरते सुख से शुक सारिका ॥५॥

सुरभि नूतन नूतन पुष्प के
रसिक राग भरे मधु पान से।
मिल मधुव्रत मत्त मधुव्रता
निरत थे रहते सह-गान में ॥६॥

प्रणयिनी प्रणयोत्सुक हर्ष से
चतुर बर्हिण बर्ह पसारता।
हरिण संग लिए हरिणी वहा
निकट में कुछ मुग्ध निहारता ॥७॥

पिक-वधू अनुराग पुकारती
विधृत कोकिल की महकार से।
निकुञ्ज भाग में प्रिय चातकी
'पिय कहाँ' कहती उन बार से ॥८॥

चकित सी तरुणी जब तीर में
अनिल-कंपित हो चलती लता।
सजन सा उसके अवलम्ब को
सर-तरंग तड़ाग उभाड़ता ॥ ९ ॥

प्रकृति नित्य यहाँ नवयौवना
अधिक गर्वित रूप-सुहाग से।
चतुर सी निज अंग सँवारती
ललित कोमल पल्लव राग से ॥ १० ॥

व्यथित भी मन को मिलती यहाँ
कुछ अलौकिक सी अनुकूलता।
भ्रमण हेतु यहाँ पर नित्य था
त्रिविध ताप महीपति भूलता ॥ ११ ॥

कुछ दिनों तक ही सुख का यहाँ
यह नरेश्वर भाजन हो सका।
गहन भी वह [illegible] काल से
न चिरकाल तिरोहित हो सका ॥ १२ ॥

कुछ अनिष्ट रहा अविवाच्य ही
सुखित आर्य-सरोवर देश का।
कुटिल दैव सका न सुखान्त भी
सुख यहाँ पर देख नरेश का ॥ १३ ॥

निज सुखप्रद शान्त निवास में
द्विज रहे सब निद्रित से पड़े।
घुस किसी छल से कपटी वहाँ
कुछ अतर्कित शूकर आ पड़े ॥ १४ ॥

खल वराह लगे मिल खोदने
उस तपोवन की सहसा धरा।
चिरपवित्र कई सुर वेदियाँ
बन गयीं वन शूकर-कन्दरा ॥ १५ ॥

तट सुरक्षित थे न तड़ाग के
कमल सूख चले मन रंज से।
विमल भी जल दूषित हो चला
अशुचि कोल-शरीरज पंक से ॥ १६ ॥

हर सके न असंख्य वराह भी
उस महीतल की जब संपदा।
नियति ने छल से तब अन्य भी
नियत की कर दी कुछ आपदा ॥ १७ ॥

भर गये कपि आकर दूर से
उपनिवेश यहाँ अपना रचा।
चिर-बुभुक्षित वे फल खा चले
हरित केवल कानन था बचा ॥ १८ ॥

भ्रमर भूल गये निज भावना
शुक हुए रत वानर-वाद में।
अरुचि किन्तु रहे कुछ हंस ही
उस असंस्कृत घर्घर नाद में॥ १९॥

अवश देख चला उस भूमि को
नृप असज्जित सायक-चाप से।
स्थगित आहत सा हतभाग्य से
हृदय दग्ध हुआ परिताप से॥ २०॥

कुपित बोल उठा अभिमान से
इस तपोवन की यह दुर्दशा?
हतविधे! कह तू किस हेतु से
यह सुदेश रसातल में धँसा?॥ २१॥

स्मृत हुई उस दूषित तीर्थ से
निज अतीत पराजय की कथा।
अरि-प्रमाद-तिरस्कृत देश की
दुःसह जाग उठी अमित व्यथा॥ २२॥

प्रबल आग निज-स्मृति से नई
नृपति के उर में जलने लगी।
चिर-नियन्त्रित भी अति धैर्य से
नदि तरंग यथा चलने लगी॥ २३॥

गगन सा अति निर्मल चित्त भी
घिर गया घन शोक विकार से।
निमद भी प्रतिभा रवि-कान्ति सी
हत हुई घिर मोह-तुषार से ॥ २४ ॥

मन हुआ अभिभूत ममत्व से
हत मही-बल-कोष-पुरादि के।
नृप लगा वह चिन्तित सोचने
विषय में गृह-भृत्य-गजादि के ॥ २५ ॥

नगर जो वह पूर्वजवृन्द के
सतत पालित था शर-चाप से।
बन रहा असमर्थ अनाथ है
पुर वही किसके अब पाप से ? ॥ २६ ॥

सड रहा रिपु के वश में पडा
प्रिय सदामद वारणराज है।
उस महागज की चिरकाल से
कुशलता उपलब्ध न आज है ॥ २७ ॥

प्रचुर वेतन पाकर भृत्य जो
अनुग हैं नृप के निज-देश के।
बन रहे अब वे कपटी न हों
कृपणतीनत भृत्य विदेश के ॥ २८ ॥

नृपति के गृह में इस देश का
चिर-सुरक्षित जो वह कोष है।
सन अपव्यय से अपने लिए
कर रहे उसका अब शोष हैं॥ २६॥

विकल हो इस भांति विषाद से
सहज-धैर्य धरापति खो चला।
विधि विडम्बित कानन भूमि से
मुनिद-मानस आश्रम को चला॥ ३०॥

पुरुष एक वहीं मुनि-धाम के
निकट था उपविष्ट विराग से।
हृदय-दुःख मिला सम-दुःख से
मनुज मानव से अनुराग से॥ ३१॥

उस नवागत देख विरक्त को
विनय से विनयी नृप ने कहा।
भ्रमण हो करते किस हेतु से
पुण्य भद्र! तपोवन में यहाँ?॥ ३२॥

पिहित हो किस कारण शोक में
विगत-गर्व! कहो तुम कौन हो?
किमिति दीख रहे अति दुर्मना
गुन रहे मन में कुछ मौन हो?॥ ३३॥

द्रवित होकर के प्रिय उक्ति से
यह कथा अपनी कहने लगा।
निकल अन्तर लोचन-युग्म से
सलिल के मिष से बहने लगा ॥ ३४ ॥

धनिक नराज वैश्य कुलीन हूँ
निदित यद्यपि नाम समाधि है।
पुरुषवर्य ! बिना धन लोक में
अधम जीवन एक उपाधि है ॥ ३५ ॥

तनय ही मुझसे प्रतिकूल है
मन उपार्जित लेकर वित्त को !
भवन में अपमान-परंपरा
दहन सी दहती इस चित्त को ॥ ३६ ॥

अनुभवी अपने व्यवसाय का
मन उदार तथा तन पीन है।
दशन-हीन तथापि भुजंग सा
द्रविण-शक्ति बिना बल हीन है ॥ ३७ ॥

निरस ऊपर के तरु-जन्म से
जगत का रहता कुछ अर्थ है।
मृतक-देह-समान दरिद्र का
पर अकिंचन जीवन व्यर्थ है ॥ ३८ ॥

अपर मृत्यु अहेतु विडम्बना
धनिक निर्धनता अभिशाप है।
अधन का हृत जीवन विश्व में
असुख भाजन केवल पाप है॥ ३६॥

मलिन रासभ के पद-पङ्क सा
जन मुझे तजते सब दूर से।
अब समस्त नहीं पहिचानते
सुहृद बन्धु समग्र अदूर से॥ ४०॥

मन फटा गृहिणी सुत भृत्य से
भवन भी तज कानन को चला।
पर नहीं इस चञ्चल चित्त की
चपल वृत्ति हुई कुछ निश्चला॥ ४१॥

हृदय है फिर भी यह सोचता
'कुछ नहीं मिलता गृह-वृत्त है'
मन सुतों पर है रहता लगा
'अशुभ या उनका शुभ वृत्त है'॥ ४२॥

रुक गया यह राग विराग की
उभय भाँति सुनाकर आधि को।
सदय चित्त पुन नृप ने कहा
इस निमानित मुग्ध समाधि को॥ ४३॥

सदुपयोग उपार्जित वित्त का
उचित दान तथा उपभोग है।
विभव-संग्रह का परिणाम ही
विरति निग्रह-तु या वियोग है॥४४॥

अनल से जल से छल चोर से
स्वजन मित्र तथा नरपाल से।
धनिक-जीवन है भय से घिरा
कुशल कौन बचा कब काल से?॥४५॥

धन नहीं नर जीवन-लक्ष्य है
सुजन में गुणगान महान है।
कनक भूषण से गृहपाल भी
कब हुआ मृगराज समान है?॥४६॥

विमुख होकर के गुण पक्ष से
कृपण ही बनते धन-दास हैं।
पर उसी धन अस्थिर के लिए
पठित होकर आप उदास हैं॥४७॥

यदि कलत्र तथा सुत वित्त ही
अहित दुःख-पराभव हेतु हैं।
कठिन बन्धन बन्धु ममत्व का
वह रहा मन में किस हेतु है?॥४८॥

अबुध औरस जो धन लोभ से
जनक का करते अपमान हों।
उन खलों पर भी निज पुत्र का
किसलिए किसको अभिमान हो? ॥ ४९ ॥

सुरथ के इस वाक्य उदार से
वह समाधि अनुत्तर सा रहा।
कुछ विचार किया उसने पुन
अवशता अपने मन की कहा ॥ ५० ॥

कथन सुन्दर यद्यपि आप का
निगम नीति-निरूपित तथ्य है।
इस असाध्य कुमानस-रोग में
पर नहीं रुचता यह पथ्य है ॥ ५१ ॥

यह नहीं सकता किस हेतु से
हृदय में यह दारुण मोह है।
चिर हुआ परिगृत कुटुम्ब से
पर असह्य कुटुम्ब-विछोह है ॥ ५२ ॥

न कर में धन, मान न बन्धु में,
तनय निष्ठुर दार विरक्त है।
यह नहीं कुछ कारण दीखता
किमिति चित्त वहीं पर रक्त है? ॥ ५३ ॥

अतिथि के इस चित्त विकार का
जब निदान हुआ न नरेश से।
क्षय अरोग उसे करने चला
शरण में गुरु के उपदेश से ॥ ५४ ॥

अथ यथोचित उत्सुक भाव में
हृदय की निज लेकर वेदना।
गुरु तपोनिधि से नृप ने किया
विनय से इस भांति निवेदना ॥ ५५ ॥

गुणनिधे ! यदि हूँ यह जानता
हृत हुआ पुर देश नृपत्व है।
यह तथापि उसी गत वस्तु में
अब रहा किस हेतु ममत्व है ? ॥ ५६ ॥

जब तिरस्कृत पुत्र कलत्र से
तज दिया इसने घर नार है।
पर नहीं तजता इस साधु को
किसलिए तब मोह विकार है ? ॥ ५७ ॥

मनुज भी हम हैं, पशु तो नहीं
पशु विमोह तथापि समान है।
विभु अनिज्ञ हुए, हम विज्ञ भी?
यह उपस्थित प्रश्न महान है ॥ ५८ ॥

इन सचेत अनिद्रित शान्त हैं
दुःख शुभाशुभ मान अवश्य हैं ।
किस अलक्षित कारण से कभी
खल नहीं रहता मन वश्य है ? ॥ ५९ ॥

सुन लिया मुख से गुरुदेव ने
निज संशय शिष्य विशेष का ।
उचित मान लिया प्रिय भाव से
परम पात्र उसे उपदेश का ॥ ६० ॥

प्रिय अधिप जहाँ है ज्ञानियों की तपस्या
व्यथित कर रही है वैश्य को वित्त माया ।
चल-मति ममता में मग्न है देश-नेता
असुर दल वहाँ हो क्यों नहीं घोर छाया ? ॥ ६१ ॥

हो चले सब दृश्य उनको मोह में गत और ऐसे
हों पड़े घट के उदर में प्रज्वलित मणि दीप जैसे।
भ्रान्त थे अज्ञान में वे शान्त सुन्दर निर्विकारी
भानु के जैसे करों पर हो घिरा नीहार भारी ॥ ४ ॥

ब्रह्म चिन्मय शुद्ध में माया लसी गुण रूपिणी थी
इन्द्र चाप-ज्योति सी यह भासती बहुरूपिणी थी।
यह विलक्षण थी अविद्या भ्रान्ति मिथ्या मात्र मन की
दूर ही से दीखती थी नीलिमा जैसे गगन की ॥ ५ ॥

पर उसी अज्ञान में ही ज्ञान भी था भासमान
कृष्ण घन के मध्य में अवरुद्ध विद्युत के समान।
क्यों असंभव मोह-तम के साथ ही ज्ञान-प्रकाश ?
उष्ण जल में भी विरोधी अग्नि है करती निवास ॥ ६ ॥

दिव्य मुनि की दृष्टि में तो भिन्नता ही कुछ नहीं थी
विश्व जननी शक्ति ही सर्वत्र एक समा रही थी।
उस महामायेश्वरी को ध्यान में ही वन्दनाकर
विप्रवर बोले नृपति के प्रश्न का अनुरूप उत्तर ॥ ७ ॥

ज्ञान तो सब देहधारी जीवगण में एक सम है
किन्तु उनके इन्द्रियों में योग्यता रहती विषम है।
घूक और उलूक में देखो विशेष दिवान्धता है
कीश-काक-कपोत में कैसी विशेष निशान्धता है ॥ ८ ॥

व्याघ्र-सिह-बिडाल की आँखें विलक्षण दीखती हैं
रात मे दिन मे सदा वे एक सा ही देखती हैं।
एक मात्र मनुष्य ही तो विश्व मे ज्ञानी नहीं है
ज्ञान तो पशु-पक्षियों मे मानवों के तुल्य ही है ॥९॥

मोह भय विद्वेष निद्रा दुःख सुख नर मे भरे हैं
जो हमारे भाव कुछ हैं वे नहीं उनसे परे हैं।
क्या नहीं ज्ञानी विहङ्गम चञ्चु से हैं बीन लाते
भूख सह लेते स्वयं हैं किन्तु संतति को खिलाते ॥१०॥

ज्ञान-गर्वित भी मनुज सन्तान अपनी पालता है
ध्यान रख उसका सदा ही कष्ट निज पर डालता है।
पुत्र बनकर योग्य यह निज वंश को उज्ज्वल करेगा
मानकर आज्ञा विनय से जन्म भर सेवा करेगा ॥११॥

चित्त मे इस भाँति बहुधा मोह या आशा छिपाये
हैं नहीं ज्ञानी यहाँ क्या मोह बन्धन मे बँधाये?
वत्स पर है बह निकलती धेनु की जो स्नेह-धारा
क्या कहीं मिलता कभी है पुत्र से उसको सहारा? ॥१२॥

किन्तु माया शक्ति जो ससार मे अति बलवती है
प्राणियों के मोह का कारण वही श्री भगवती है।
सर्व जीवों को दया से पुत्रवत् वह पालती है
किन्तु मायारूपिणी अज्ञान मे भी डालती है ॥१३॥

योगमाया धारकर यह मोह-बन्धन तन्तुओं को
दारु-पुतलों को नटी सी है नचाती जन्तुओं को।
अज्ञ जीवों को नहीं है मोह सागर में गिराती
घोर ममतावर्त में भी है नहीं रहती घुमाती ॥ १४ ॥

ज्ञानियों के चित्त को भी शक्ति से है खींच लेती
है यही विद्वान को भी मोह में अति नीच देती।
सृष्टि से इस विश्व का विस्तार उसने ही किया है
भक्त जन पर तुष्ट हो वरदान भी उसने दिया है ॥ १५ ॥

पर यह केवल नहीं भव हेतु बन्धन दायिनी है
आत्मविद्या भी परा यह जीव मुक्ति विधायिनी है।
विश्व ही उस विश्व-मा के गर्भ में सोया हुआ है
आप का इस हेतु से विज्ञान-बल खोया हुआ है ॥ १६ ॥

भूप ने पूछा प्रभो! वह कौन देवी भगवती है
आप बतलाते महामाया जिसे अति बलवती है?
जन्म है किस भाँति पाया कर्म क्या उसने किए हैं?
भक्त को वरदान उसने कब कहा कैसे दिये हैं? ॥ १७ ॥

श्री सुमेधा ने कहा यह शुद्ध शक्ति महेश्वरी है
सर्वगत सर्वादि सर्वाधार पर भुवनेश्वरी है।
नित्य अजरामर अमूर्त अमूल एक अरूपिणी है
सत्य पूर्ण अनाद्यनन्त अचिन्त्य चेतनरूपिणी है ॥ १८ ॥

शाश्वती अव्यय अजा अव्ययशक्ति सनातनी है
सर्व पर चर-अचर-कारण बीजभूत पुरातनी है।
इन्द्रियों से है परे प्रज्ञा वहाँ जाती नहीं है
दूर है मन से गिरा से भी कही जाती नहीं है ॥ १९ ॥

स्वप्न जाग्रत् घोर निद्रा-वृत्ति में आती नहीं है
तर्क संगत युक्तियाँ उसको कहीं पाती नहीं है।
ज्योति सर्व व्यापिनी वह दिव्य-रूप विराजती है
चन्द्र तारा अग्नि रवि में एक ही वह भासती है ॥ २० ॥

है सदा अविनाशिनी भूत में भविष्यत् में वही है
है न कुछ उससे अधिक, उसकी नहीं उपमा कहीं है।
विद्यमान स्वभाव से उसमें क्रिया विज्ञान बल है
विश्व रूप अनादि तरु के मूल का अज्ञात तल है ॥ २१ ॥

नाम-रूप-विहीन उसमें भेद है सब लीन रहते
सृष्टि से पहले उसे ही आर्य हैं अव्यक्त कहते।
ध्रुव वही कूटस्थ अक्षर अद्वितीय परा प्रकृति है
विश्व सृष्टि स्थिति नित्य की हेतु वह अपरा प्रकृति है ॥ २२ ॥

मन अहंकृति बुद्धि-वायु-जलाग्नि नभ का रूप धरती
अष्टधा होकर वही है विश्व का निर्माण करती।
सत्व रज-तम रूप से वह भिन्न यद्यपि भ्राजती है
ज्ञान से देखें उसे तो एकरूप विराजती है ॥ २३ ॥

एक विस्तृत भूमि पर जो भिन्न तरु होते सघन हैं
क्या नहीं उनमें वही सर्वत्र व्यापक एक वन है?
कटक कुण्डल भूषणों में भान होती भिन्नता है
एक हाटक दृष्टि से क्या अप्रतीत अभिन्नता है? ॥ २४ ॥

एक ही है विश्व का वह मूल और निमित्त बनती
क्या नहीं लूता अकेली जाल तन्तु अनेक तनती?
एक उस अव्यक्त में ही विश्व की उत्पत्ति लय है
व्यक्त है जो मध्य में वह भी सकल अव्यक्तमय है ॥ २५ ॥

कार्य यह संसार सारा है उपादान स्वरूप
है सभी मृत्पात्र केवल मृत्तिका के भिन्न रूप।
बुद्धिगत वह चेतना ही जीव का है नाम पाती
एक ही प्रत्येक घट में भानु-छाया सी दिखाती ॥ २६ ॥

भिन्न देहों में समान भिन्न सी होती वही है
भिन्न जैसे भिन्न तरु में एक वारिद-नीर ही है।
प्राण इन्द्रिय बुद्धि मन भी हैं उसी से जन्म पाते
किन्तु जननी को नहीं वे गर्भ शिशु हैं जान पाते ॥ २७ ॥

व्यक्त अस्थिरता जगत की स्थिर उसी आधार में है
भूमि अचला से नदी का ज्ञात चलना धार में है।
उस अलक्षित सत्य में ही विश्व का है भान होता
क्या न रस्सी में उरग का भ्रान्ति में है ज्ञान होता? ॥ २८ ॥

है वही नारी पुरुष मे देव दानव मे वही है
दीर्घ लघु सब जन्तुओ मे चेतना वह एक ही है।
जाति आकृति भेद तो यह देह मात्र उपाधि म है
एक ही आकाश जैसे भिन्न भिन्न घटादि मे है॥ २९॥

आत्म माया से रचित इस विश्व मे ही वह छिपी है
जीव जोति अनादि से तो भी अविद्या मे लिपी है।
बुद्धि मे विधि की वही विज्ञान विद्या शारदा है
नित्य सर्वाश्चर्यमय ससार-सृष्टि विशारदा है॥ ३०॥

काम नाशी शम्भु की वह ब्रह्म विद्या ही उमा है
वीरता म विष्णु की वह विश्व की रक्षा रमा है।
आधिदैविक रूप से वह एक सर्व स्वामिनी है
प्राणियों के भी हृदय मे नित्य अन्तर्यामिनी है॥ ३१॥

देखती है जीव को वह आत्म दिव्य ज्ञान बल से
देखता प्राणी न उसको अन्ध है अज्ञान मल से।
जीव के उसने बहिर्मुख इन्द्रियों को है बनाया
जीव ने अतएव निज को है न अब तक जान पाया॥ ३२॥

सुख से प्राणी चतुर्विध विश्व वारिधि मे पडे हैं
किन्तु पाकर तीर भी नर भ्रान्त से होकर खडे हैं।
मुक्ति-उन्नति की विलक्षण योग्यता इनमे निहित है
मूढता से अन्ध है करते तथापि न आत्म हित है॥ ३३॥

सृष्टियाँ कितनी हुईं कितने प्रलय भी हो चुके हैं
दासता से मुक्ति का कितना सुअवसर खो चुके हैं।
आर्य-मति विद्वान भी तो मन्द कैसे हो रहे हैं
भूल सब विज्ञान अपना जो निशा में सो रहे हैं ॥ ३४ ॥

अब तज आचार नर का, पूर्ण पशुता पा चले हैं
सीख खाना शूकरों से शुचि अशुचि सब खा चले हैं।
रक्त पीकर दूसरों का जोंक मोटे से बने हैं
जाति-शत्रु परोपजीवी हो चुके कुत्ते घने हैं ॥ ३५ ॥

छद्म से मुनि वेषधारी तीर्थ में भी बक बहुत हैं
अन्न के संकेत पर भी कीश कितने नृत्य रत हैं।
हैं कई नर-देह में भी दीन अज-जीवन बिताते
जो अनार्यों के लिये परतन्त्र हैं निज सिर कटाते ॥ ३६ ॥

वीर केवल जो बिलों में मत्त मूषकराज भी हैं
त्रस्त पिंगल-लोचनों से क्या नहीं वे आज भी हैं?
थे यहां नरसिंह पहले आज नरजम्बुक बसे हैं
देश में आकर तभी तो दुष्ट शूकर कपि धँसे हैं ॥ ३७ ॥

आज रण में अज्ञ ही हैं ज्ञान की गीता सुनाते
आततायी दानवों को बन्धु हैं अपना बताते।
आर्य भू पर जन्म यह सत्कर्म करने के लिए है
आर्य जीवन विश्व का उद्धार करने के लिये है ॥ ३८ ॥

किन्तु मानव धर्म से हम हो चले कितने विमुख हैं
देश का हो नाश चाहे देखते निज देह सुख हैं।
राष्ट्र के विध्वंस में भी दस्यु-दल के साथ ही हैं
मूढ करते नाश अपना आप अपने हाथ ही हैं॥ ३९॥

हैं असुर करते यहाँ जो आसुरी अपना प्रचार
क्यों न पत्नी पुत्र के हों देश में कुत्सित विचार ?
यह नहीं सम्बन्ध केवल एक मात्र समाज से है
नाश सारे देश का ही भासता इस व्याधि से है॥ ४०॥

शक्ति से है मुक्ति सभव मूल उसका जागरण है
दुर्बलों को दुःख मे तो एक दुर्गा ही शरण है।
आततायी दानवों का, है वही संहार करती
दूरकर कामादि रिपु भी साधु का उद्धार करती॥ ४१॥

आसुरी अन्याय का है जब जगत पर भार होता
दिव्य उसके अंश का है तब यहाँ अवतार होता।
लोक मे उत्पत्ति उसकी मानते बहु भाँति नर हैं
है नहीं उत्पन्न यद्यपि नित्य वह अव्यय अमर है॥ ४२॥

उस अलौक शक्ति के ही नाम से हैं तीन भेद
एक ही होता त्रिधा जैसे यजु ऋक् साम वेद।
है महाकाली प्रथम वह योगमाया भी कहाती
निद्ररूपी विष्णु को जो योगनिद्रा मे सुलाती॥ ४३॥

कर्म-कौशल योग का है विश्व में जब नाश करती
है अविद्यारूप तब वह योगनिद्रा नाम धरती।
सृष्टि के आरंभ में था विष्णु को इसने जगाया
मत्त मधु-कैटभ खलों से त्रस्त धाता को बचाया॥ ४४॥

मर्मदा है भक्त को यह गूढ़ निज महिमा दिखाती
दीन भी असहाय जन को दुर्जनों से है बचाती।
दूसरा है रूप उसका श्रीमहालक्ष्मी जगत में
आधिभौतिक शक्ति है यह संगठन में एकमत में॥ ४५॥

विश्वरूपी विष्णु की है संगठित यह सघशक्ति
राष्ट्र की रक्षक यही है वीरता घन सैन्य शक्ति।
विश्व में महिषासुरी जब दैत्य का दल छा गया था
आसुरी अधिकार में जब स्वर्ग भूतल आगया था॥ ४६॥

देव-कुल की शक्ति को तब एकता ने आ जगाया
है यहीं इस चण्डिका ने सघबल से जन्म पाया।
वीर-पशुराज सिंह पर है शक्ति यह चण्डी विचरती
दुष्ट दानव मर्दिनी है दानवों का दर्प हरती॥ ४७॥

तीसरी विज्ञानमय अध्यात्म शक्ति सरस्वती है
बुद्धिबल उत्साह क्रिया योग में यह भासती है।
शुभ और निशुभ के सुर भीत जब आतंक से थे
दुख से निज देश में भी दीन और सशक-से थे॥ ४८॥

एक दिन वे जाह्नवी के तीर मे आये नहाने
संमिलित होकर वहाँ थे एक चण्डीयज्ञ ठाने।
मन्त्र देवीसूक्त का सब एक स्वर से गा रहे थे
साथ ही सब देशवासी आत्म-दुख सुना रहे थे ॥४९॥

हो चलीं गुञ्जित दिशाएँ दिव्य सुनकर देववाणी
देवियों के मध्य मे से पार्वती प्रकटी भवानी।
शस्त्र-सज्जित देवियों का व्यूह था उसने बनाया
शुम्भदल-विध्वंस करके विश्व मे सम्मान पाया ॥५०॥

शक्ति के ये दिव्य मौलिक भेद यद्यपि तीन ही हैं
किन्तु शक्ति अनन्त है उसकी नहीं संख्या कहीं है।
तीन जो सुन्दर उसी के हैं चरित्रों की कथायें
ध्यान से उनको सुनो, सब दूर हों मोह व्यथाएँ ॥५१॥

सुगम-सरस-भाषा-छन्द-माधुर्य-धारी
असुर-दलनकारी विश्व-संतापहारी।
असुख भय निराशा मोह तन्द्रा-विनाशी
यह विशद कथा सन्दर्भ है शक्ति भासी ॥५२॥

नवम सर्ग

प्रथम चरित्र

युगों तक जो शुभ्र श्री जागि
किया करती है अनुसन्धान।
क्षणों में कर लेता है काल
प्रलय में ही उसका अवसान ॥ १ ॥

कभी विधि की सन्ध्या में एक
भयंकर आई काली रात।
हुआ यह तिमिरावृत संसार
अलक्षित तर्कशून्य अज्ञात ॥ २ ॥

चराचर निखिल सारा विश्व
जिसे कहते हैं विष्णु विराट्।
योग निद्रा से हो अभिभूत
लगा सोने वह सुर सम्राट् ॥ ३ ॥

जहाँ पहले थे उन्नति-योग
कला कौशल साहस विज्ञान।
समय की गति में थे अब शेष
वहा केवल निद्रा अज्ञान॥४॥

सहस्रों नयन हुए निस्तेज
हजारों हाथ चरण भी व्यर्थ।
सहस्रों सीस तथा युग कर्ण
हुए सब निद्रा से असमर्थ॥५॥

कमल भूतल के चारों ओर
हुआ उद्भट सागर सलग्न।
विधाता भी तज अपना काम
लगा सोने सुख में हो मग्न॥६॥

शयन करते करते विश्राम
विताये विधि ने काल अनन्त।
पुन: युग ने परिवर्तन शील
किया उसकी निद्रा का अन्त॥७॥

हुई चिर निद्रा यद्यपि दूर
नहीं पर दूर हुआ अज्ञान।
कौन हूँ क्या है निज कर्तव्य
नहीं आया यह कुछ भी ध्यान॥८॥

हृदय में थी उसके जो लीन
परा वाणी प्रज्ञा अव्यक्त ।
स्फुरित हो करके वह स्वयमेव
चली होने जिह्वा पर व्यक्त ॥ ९ ॥

किया अन्तस्तल में जब दिव्य
परा वाणी ने स्व-संचार ।
लगा होने शुद्ध मानस-गम्य
अलौकिक सा उसका गुंजार ॥ १० ॥

प्रणव से पूरित वह अभिराम
श्रवण करते ही श्रुति का सार ।
उठे हो झंकृत से तत्काल
हृदय-तन्त्री के सारे तार ॥ ११ ॥

लगे चेतन होने मन प्राण
मिटाकर निद्रा का उन्माद ।
गया हर्षित रोमों में गूँज
महा सुन्दर वह सम्भृत नाद ॥ १२ ॥

लगे सुनने सब पावन राग
निमीलित-लोचन होकर मौन ।
गिरा के उस गायन में शुद्ध
नहीं गुंजित थी भाषा कौन ? ॥ १३ ॥

मिले थे उसमें सारे अर्थ
शब्द शब्दों का था कुछ भेद।
अभिन्न अर्थों का वाचक शब्द
रहा दोनों में नित्य अभेद ॥ १४ ॥

नहीं था ह्रस्व दीर्घ प्लुत आदि
वहां वर्ण ध्वनि जन्य विकार।
उच्चरित होता था वह नाद
एक ऊंकार या ओंकार ॥ १५ ॥

विदित होते थे उसमें वेद
विधाता के शुभ आनन चार।
स्वयं देखे उसमें सब अंग
स्वयंभू ने निजाकार ॥ १६ ॥

गई विस्मृति आया आलोक
हुआ वेधा को निज का ज्ञान।
उसी में देखा अपना बिंब
सहज तेजोमय शुद्धि निधान ॥ १७ ॥

निज स्मृति से आया जब धैर्य
पितामह ने ली सुख की श्वास।
लगा होने छन्दोमय शुद्ध
निगम का वाणी पर उल्लास ॥ १८ ॥

परा वाणी-मय शब्द ब्रह्म
रहा जो अन्तर में अवरुद्ध।
प्रयत्नों से बनकर वह वर्ण
हुआ कण्ठादिक में उद्बुद्ध ॥ १९ ॥

किया श्रुतियों का जब अभ्यास
हुआ उनसे स्मृत कर्म ज्ञान।
खुले लोचन देखा तम पुञ्ज
मलिन युग का काला परिधान ॥ २० ॥

चकित बोले—क्यों बदली सृष्टि
उजाड़ा यह किसने संसार?
किया दस आशाओं पर एक
तमिस्रा ने कैसे अधिकार? ॥ २१ ॥

उषा देवी के आकर साथ
नहीं क्यों करता रवि आलोक?
प्रलय पापी के भय से भीत
प्रकृति में भी क्यों इतना शोक? ॥ २२ ॥

निशा क्यों नीरव सी है मौन?
तिमिर बिखरे हैं इसके केश।
असित अञ्चल में कैसा घोर
छिपा है यह काली का वेष ॥ २३ ॥

कहा है पति इसका राकेश ?
कहा तारामय मुक्ताहार ?
नहीं क्यों ज्योत्स्नाओं से चन्द्र
पुन करता इसका शृंगार ? ॥ २४ ॥

बहुत कर डाले ऐसे प्रश्न
किये भी कितने ही अनुमान।
नहीं पाया बाहर से भेद
लगाया तब धाता ने ध्यान ॥ २५ ॥

प्रलय का देखा भीषण दृश्य
जगत के पापों का परिणाम।
निकट था निगमागम का अन्त
नहीं था शुभ कर्मों का नाम ॥ २६ ॥

विरस था वर्णाश्रम विश्वास
गया था शूलों में मिल धर्म।
रहा जीवन फल केवल मृत्यु
मृतक-जीवन भी थे निष्कर्म ॥ २७ ॥

अखिल नर नारायण के अग
अविद्या के वश में थे सुप्त।
सचेतन भी चेतनता-हीन
मलिन शुभ-संस्कारों से मुक्त ॥ २८ ॥

नयन में निद्रा मन में मोह
बसा अंगों में था आलस्य।
छिपे थे कानों में भी गूढ़
कुटिल कितने ही पाप-रहस्य ॥ २८ ॥

नहीं सुनने से शुचि उपदेश
जमा था कानों में मल-कोप।
उसी मल से मद और विमोह
निकल आए दो दानव दोष ॥ ३० ॥

असुर वे ही मधु-कैटभ रूप
निशा में चरते थे स्वच्छन्द।
तिमिर में दोनों उग्र पिशाच
मनाते थे मिलकर आनन्द ॥ ३१ ॥

किसी को मधु करके उन्मत्त
जगा देता मद से अभिमान।
लगा रहता था कैटभ मोह
बढ़ाने में संशय अज्ञान ॥ ३२ ॥

लखे दोनों के जब दुष्कर्म
हुआ सहसा धाता वह क्रुद्ध।
कहा जाओ दुष्टो! तुम दूर
जगत होगा यह फिर से शुद्ध ॥ ३३ ॥

नहीं है यह असुरों की भूमि
जहां तक बसता है सुरवंश।
सुधारूँगा अपनी यह सृष्टि
हुई है जो तुमसे विध्वंस ॥ ३३ ॥

प्रलय के हो दोनों तुम दूत
किया है तुम ने घोर विनाश।
तुम्हारे ही कारण से आज
नहीं होता है विश्व-विकाश ॥ ३४ ॥

रहे सोते अब तक हम अज्ञ
हुआ हमको है अब निज-बोध।
जगत्पति सोता है जो विष्णु
करूँगा मैं उसका उद्बोध ॥ ३५ ॥

जगा दूँगा मैं सारा विश्व
सुनाकर वेदों के गुरु मन्त्र।
निहित है जागृति में उत्थान
नहीं जागृत रहता परतन्त्र ॥ ३७ ॥

मिला दृढ़ निश्चय से उत्साह
लगे पढ़ने उपदेश प्रशस्त।
नाभि-पंकज पर पंकजयोनि
खड़े होकर ऊँचा कर हस्त ॥ ३८ ॥

पढे वेधा ने सारे मन्त्र
किया जागृति का भी आह्वान।
नहीं जागा पर विष्णु विराट्
गया बढ असुरों का अभिमान॥ ४४॥

लगे कहने विधि से प्रत्यक्ष
असुर दोनों आकर साकार।
'किसे देते हो यह उपदेश ?
हमारा है सब पर अधिकार॥ ४५॥

नहीं है क्या तुमको विज्ञात
असुर कैसे होते हैं चण्ड ?
त्वरित बैठो अब होकर मौन
नहीं तो होगा दैहिक दण्ड॥ ४६॥

नहीं दण्डों से थे भयभीत
गहा तो भी ब्रह्मा ने मौन।
यही उनको चिन्ता थी एक
जगायेगा जीवों को कौन ?॥ ४७॥

हजारों आखों पर से घोर
हटेगा कैसे निद्रा भार ?
करेगा कैसे विष्णु विराट्
तमीचर असुरों का संहार ?॥ ४८॥

स्वरों पर तू ही बिन्दु विसर्ग
सदा आधी मात्रा है रम्य।
तुझे मुख से कह सकता कौन
किसी मानस की तू अगम्य ॥ ५४ ॥

तपोमय तू सन्ध्या जन-वन्द्य
विदित सावित्री तू श्रुतिधाम।
तुझे ही जपते हैं द्विज नित्य
तुझे पढ़ते हैं ऋग्, यजु, साम ॥ ५५ ॥

महामाया तू मोहनशक्ति
कहीं रहती है मोहाकार।
महाविद्या मेधा स्मृतिरूप
विमल है तू विद्यागार ॥ ५६ ॥

धरा धारण करती तू विश्व
चतुर तू रचती है भव-सृष्टि
जगत् पालन में है जगदम्ब।
दया-पूरित है तेरी दृष्टि ॥ ५७ ॥

महाकाली बन तू उन्मत्त
महादानव करती संहार।
महाविद्या देकर आलोक
हटा देती है तम का भार ॥ ५८ ॥

प्रकृति रहती है तू अव्यक्त
व्यक्त होती है जगदाकार।
बिना तेरी करुणा के आज
हुए हम हैं निर्बल निस्सार॥ ५६ ॥

नमस्ते कालरात्रि हे शक्ति!
नमस्ते महारात्रि हे देवि!
करो करुणा जागृत हो विश्व
दारुणे मोहरात्रि जय देवि!॥ ६० ॥

नमो हे श्री ह्री माता शक्ति
नमो लज्जे! नित्ये! जय पुष्टि!
नम उद्बोधन-कारिणि बुद्धि
नमस्ते शान्ति शान्ति जय तुष्टि॥ ६१ ॥

गदा धारे ले चक्र कृपाण
भुशुण्डी शूल परिघ धनु बाण।
बना देती है तू रण-शंख
असुर-दल पर करती अभियान॥ ६२ ॥

यदा करती जब तू हुँकार
मचा देती है खल-संहार।
कभी बनती हैं घोराकार
मिटाने को भूतल का भार॥ ६३ ॥

कभी सुन्दर से सुन्दर सौम्य
सुन्दरी शोभा से कमनीय।
अमित करुणा से तू भव-सृष्टि
सरस कर देती है रमणीय ॥ ६४॥

अचेतन-चेतन मे तू शक्ति
चराचर मे है तेरा तेज।
शयन करता है चिर से विष्णु
किया है क्यों तू ने निस्तेज ? ॥ ६५ ॥

करूँ कैसे तेरी स्तुति अम्ब!
प्रभावों की है तू आगार।
अरे! मुझमें तो है मति अल्प
अकिञ्चन की है तू आधार ॥ ६६ ॥

अभय का देती जो वरदान
उसी का पीडित हो क्यों भक्त ?
तनय कितना भी हो मतिमन्द
तदपि माता रहती अनुरक्त ॥ ६७ ॥

यही है मधु-कैटभ-आख्यान
सुना तुमने जो आज विचित्र।
करें हम भी देवी का ध्यान
यही उसका है प्रथम चरित्र ॥ ७४ ॥

काली है प्रलयंकरी यह महानिद्रा जगन्मोहिनी
है जागर्ति यही महाभगवती विद्या तमोहारिणी।
देती सिद्धि विषाद दूर करती सर्वेश्वरी जो सदा
माता है करुणामयी वह महादुर्गा भवोद्धारिणी ॥ ७५ ॥

ⓒ

निख्यात रहा सब देशों में
सुरदेश अमित गुण रत्न भरा।
यह दिव्य तपोमय पावन थी
रमणीय देव-कुल जन्म धरा ॥ ४ ॥

बसते सब सुर संपन्न वहां
अति सभ्य सदा स्वाधीन रहे।
थे वीर अतुल महिमाशाली
पर मुग्ध सुखों में लीन रहे ॥ ५ ॥

वर वसन चारु चन्दन भूषण
सुखशयन सुमन मणि मालाएँ।
अनुरञ्जन थीं करती उनका
गुण-रूप लसित सुर बालाएँ ॥ ६ ॥

सुनते रहते थे भोगों में
सुर मूढ़ अवश मन चञ्चल से।
सुख देख परस्पर जलते थे
परिताप भरे मधु विह्वल से ॥ ७ ॥

कुल उज्ज्वल गौरव उच्च रहा
जन धन का बल था अल्प नहीं।
पर एक संगठित रहने का
उनमें था दृढ़ संकल्प नहीं ॥ ८ ॥

कवि गूँथ चले उनकी गाथा
उनके यश का विस्तार हुआ।
अवनीतल पर भी उनकी ही
सुख लिप्सा का संचार हुआ ॥ ६ ॥

तब देख चले नर नश्वर भी
उन देवों के सुख का सपना।
करने सब कर्म सकाम लगे
तजकर निष्काम कर्म अपना ॥ १० ॥

घट शक्ति चली सगठन बिना
मन भीरु हुआ साहस टूटा।
असुरों ने उनके घर में ही
घुसकर समान निर्भय लूटा ॥ ११ ॥

लखकर देवों का वर वैभव
असुरों के मन में डाह रही।
पर धन हरने को छल बल से
चोरों को चिर से चाह रही ॥ १२ ॥

मतिहीन महिप मतवाला सा
मुखिया उनका महिषासुर था।
वह बाहर से जितना काला
उससे बढ़कर उसका उर था ॥ १३ ॥

सुरपति को भोग निरत देखा
सुर देश असज्जित सा पाया।
दल एक दानवों का लेकर
वह देव शत्रु छल से आया ॥ १४ ॥

लूटे भूषण धन रत्न अमित
टूटे मन्दिर पुर हाट जले।
कर चुके बहुत उग्र जन दानव
लड़ने तब सुर-सम्राट् चले ॥ १५ ॥

संगठित नहीं यद्यपि सुर थे
पर भीषणतम संग्राम किया।
निज देश-धर्म-हित कितने ही
वीरों ने रण में नाम किया ॥ १६ ॥

शत वर्षों तक वह युद्ध चला
सुरराज और महिषासुर का।
धरणी का कण कण रक्त हुआ
कर रक्तपान देवासुर का ॥ १७ ॥

पर जीत रही महिषासुर की
उसके कर में अधिकार गया।
सुरजाति धर्म पर अभिमानी
असुरों ने अत्याचार किया ॥ १८ ॥

देवों के सब अधिकारों से
उनको क्रम क्रम से हीन किया।
सर्वस्व हरण करके उनका
सब भांति दशा को दीन किया ॥ १६ ॥

हरि-शासन यम का न्यायासन
सुरराज भवन नन्दन उपवन।
असुरों के सब हाथों में था
देवों का जीवन और मरण ॥ २० ॥

तब जान गये सुर अब उनका
है व्यर्थ न जीवित रहने का।
पशु तुल्य पराधीनों का है
अधिकार नहीं कुछ कहने का ॥ २१ ॥

शंकित सुरगण एकत्र हुए
मिलकर सब विधि के पास गये।
आदर से आगे कर उनको
शिव धाम शिखर कैलास गये ॥ २२ ॥

सम्मिलित हुए सब देव वहां
साहस कर कष्ट उठाने का।
संकल्प रहा सबके मन में
असुरों से देश छुड़ाने का ॥ २३ ॥

उस देवसभा में ब्रह्मा ने
क्रम से आरम्भ किया कहना।
सुर वीरो। जो स्वाधीन नहीं
धिक्कार उन्हें जीवित रहना ॥ २४ ॥

श्रुतिशास्त्र-अध्ययन यज्ञ हवन
शुचि सोमसवन सन्ध्यावन्दन।
कुल देश मान सेना जन धन
है शेष कहा सुरमय जीवन ? ॥ २५ ॥

क्या सत्य यही दुख का कारण
असुरों का छल अथवा बल है ?
यह आज दुर्दशा तो सारी
अपने दोषों का ही फल है ॥ २६ ॥

अपनी दुर्बलता ही सब को
रिपु के वश में ले जाती है।
तब क्यों अज्ञान विवश जनता
असुरों में दोष लगाती है ? ॥ २७ ॥

बलहीन किसी का होना ही
अति पाप असुख का दाता है।
यह अन्तर-रिपु बाहर के भी
रिपुओं को पास बुलाता है ॥ २८ ॥

गिन गिन कर अपने दोषों को
पहले जब दूर हटायेंगे।
सुरवृन्द यहीं इन पापों से
तब मुक्त यहाँ हो पायेंगे ॥ २६ ॥

अतएव तजो दुर्गुण पहले
गुण पक्ष गहो विद्वान् बनो।
सब त्याग परस्पर भेदों को
सगठित अतुल बलवान् बनो ॥ ३० ॥

तब शक्य नहीं है क्षण भर भी
तुमको कोई परतन्त्र करे।
तब शक्य नहीं सुरभूतल पर
सुर शत्रु कहीं भी पैर धरे ॥ ३१ ॥

अपना यह दोष पुराना है
इसलिए असुर चढ आते हैं।
जब जब बढती है दुर्बलता
तब तब परतन्त्र बनाते है ॥ ३२ ॥

पर आज यहाँ जिनकी जननी
बन्दी है रिपु की कारा मे।
है डूब रहा गौरव जिनका
अपमान सहित जल धारा मे ॥ ३३ ॥

वे मौन पडे क्यों सोते हैं
जीवन उत्सर्ग नहीं करते ?
यह स्वर्ग नहीं उनका घर है
कर्तव्य कठिन से जो डरते ॥ ३४ ॥

निज देश धर्म कुल गौरव का
अभिमान नहीं जिसमें रहता ।
चरणाहत होकर जो अरि से
अपमान निरंतर है सहता ॥ ३५ ॥

उससे तो है वह धूल भली
जो पैरों से ठोकर खाकर ।
अभिमान सहित चढ जाती है
वैरी के मस्तक पर जाकर ॥ ३६ ।

मिटता धर्षण का ताप नहीं
संतोष तथा संयम दम से ।
उपचार न हो जब तक उसका
रिपु के ही शोणित-कर्दम से ॥ ३७ ॥

गुण एक अमरता ही तो है
शुचि सोम-सुधा-रस पीने का ।
वह अमर नहीं जो मान विना
कायर है लोभी जीने का ॥ ३८ ॥

गत का करते अनुताप नहीं
जो वर्तमान सुलझाते हैं।
जन चतुर तिमिरमय संकट में
दीपक सी नीति दिखाते हैं ॥ ३९ ॥

क्या नीति कहां हम अपनायें
इसका कुछ भेद बताता हूँ।
हमको संप्रति क्या करना है
निश्चय कर उसे सुनाता हूँ ॥ ४० ॥

असुरों से सन्धि असंभव है
हो भी तो शुभ परिणाम नहीं।
कितना ही मेल करें तो भी
त्यागेंगे कुत्सित काम नहीं ॥ ४१ ॥

कुछ दान विनय करने से भी
उनका होगा परितोष नहीं।
सर्वस्व उन्हें दे दें तो भी
उनको होगा संतोष नहीं ॥ ४२ ॥

अब भेदनीति से शक्य नहीं
वश में होना वैरी दल का।
उनके है आज शक्ति कर में
है गर्व उन्हें अपने बल का ॥ ४३ ॥

है अन्य नहीं कोई हमको
शरणों मे भी लेने वाला।
असुरों के कर से देवों का
अधिकार दिला देने वाला॥४४॥

अरि के दल मे कुल निग्रह का
आभास अल्प भी यदि रहता।
'बैठो कुछ काल मौन होकर'
यह नीति अभी तुमसे कहता॥४५॥

पर अन्य नीति अवलंबन का
अवकाश नहीं दिखलाता है।
असुरों से समर करने का
अब एक मार्ग रह जाता है॥४६॥

इस पथ पर निर्भय चलने की
जब तक सोचेंगे युक्ति नहीं।
तब तक असुरों के हाथों से
सुरगण पायेंगे मुक्ति नहीं॥४७॥

इसलिए मार्ग निश्चित कर लो
पग आगे को धरना होगा।
अविलंब राष्ट्र की वेदी पर
रण-यज्ञ एक करना होगा॥४८॥

रण-यज्ञ राष्ट्र-हित पावन है
सब जाति जहाँ अधिकारी है।
इसमें जन जो सम्मिलित नहीं
वह देश शत्रु अघकारी है॥ ४६॥

वह पाप पतित पाखण्डी है
जो इसे बताता हिंसा है।
निज देश धर्म की रक्षा में
हिंसा यह परम अहिंसा है॥ ५०॥

यह राष्ट्र-यज्ञ वीरव्रत है
बन्धन से मुक्त कराता है।
कहती है श्रुति निर्दोष इसे
यह यज्ञ विश्व का त्राता है॥ ५१॥

इसमें वीरों की आहुति से
ज्वाला जो घोर निकलती है।
रिपुकुल की जबतक राख न हो
तब तक यह संतत जलती है॥ ५२॥

इस धर्म-यज्ञ में है कोई
संतोष क्षमा का स्थान नहीं।
उसको हम धर्म नहीं कहते
जिससे अपना उत्थान नहीं॥ ५३॥

अज्ञान जनित त्यागो अपने
इन कुत्सित दीन विचारों को।
अब क्षण भर भी मत सहन करो
असुरों के अत्याचारों को॥ ५४॥

वीरव्रत की लेकर दीक्षा
वीरो! जीवन को शुद्ध करो।
सज साज समर-सम्भारों को
आरंभ अभी से युद्ध करो॥ ५५॥

कर्तव्य उचित पालन करना
श्रुतियों का है वक्तव्य यही।
है जीव अमर नश्वर तनु है
है सत्य अमर-सन्देश यही॥ ५६॥

माता का मल है पुत्र वही
दासत्व भार जो वहन करे।
रहता पुरुषत्व कहाँ उसमें
अपमान सदा जो सहन करे॥ ५७॥

'कपटी रिपु से भी कपट नहीं'
यह मूर्ख विमूढ़ों का मत है।
काँटों पर नंगे चरणों से
चलने की नीति असंगत है॥ ५८॥

यदि अल्प समय भी जीवन हो
पर वह बिजली सा चमक उठे।
समर में जलकर क्षण भर भी
अपनी ज्वाला से चमक उठे ॥ ७९ ॥

सुर वीर लोभ से जीवन के
भूसी की आग नहीं बनते।
निज अयश-धूम से जीते ही
वे नहीं सुराग कर हैं सनते ॥ ८० ॥

चतुरानन ने इतना कहकर
जब सुरसभा में मौन गहा।
वीरों के आनन पर देखा
उत्सुक नयनों से नीर बहा ॥ ८१ ॥

इन दिव्य अमर सन्देशों से
मन में जो अमित उमंग बढ़ा।
अति गौर बदन पर देवों के
उसका अरुणोदय रंग चढ़ा ॥ ८२ ॥

शिव विष्णु प्रमुख भी लाल हुए
काँपे दोनों के चारु स्वधर।
तन गईं कुटिल धनु सी भौंहें
बोले अब होने दो समर ॥ ८३ ॥

मगर सुनते ही दवों के
देहों से घोर उठी ज्वाला।
वह संघशक्ति मिलकर सारी
बन गई एक अद्भुत बाला ॥ ६४॥

उस देवी की आभाओं से
भर गया भुवन सारा क्षण में।
उसका शुभ दर्शन करते ही
बढ़ा उत्साह अमरगण में ॥ ६५ ॥

बलवान करों में तब उसके
निज शस्त्र सुरों ने दान किया।
वर वसन रत्न मालाओं से
उसका सबने सम्मान किया ॥ ६६ ॥

असि चर्म चक्र शर शूल गदा
धनु परशु पाश घंटा दर दर।
ले वज्र दण्ड वारिज सहसा
हो गये सजग देवी के कर ॥ ६७ ॥

गिरि शैलराज भी सेवा में
उपहार सिंह वाहन लाया।
वह शैल-सूनु साहसशाली
देवी को पचानन भाया ॥ ६८ ॥

आकर टूटे उन पर ज्यों ही
देवों की शक्ति बनी काली।
वह अट्टहास कर गर्ज उठी
उमगे घन-घोर-घटा काली ॥ ६९ ॥

धँस गई धरणि काँपे भूधर
हिल चला पयोधि हिलोरों में।
फट गया गगन टकरा उनके
उन्नत किरीट के छोरों से ॥ ७० ॥

आँधी सी चली उठी आगे
रज में छिप गया अंशुमाली।
हर एक कंठ से बोल उठे
'जय महिषमर्दिनी जय काली' ॥ ७१ ॥

घंटे बाजे रणशंख बजे
बल भरी भुजाएँ फड़क उठीं।
सुरसिंह-वाहिनी बिजली सी
वह दैत्य दुर्ग पर भड़क उठी ॥ ७२ ॥

सुरशक्ति सुसज्जित शस्त्रों से
जब वह असुरों पर टूट पड़ी।
जैसे अपार नैराल की
ज्वाला विशाल सी फूट पड़ी ॥ ७३ ॥

रण मत्त गिरा भी गर्ज उठा
सुन गर्जनाद दानव निकले।
छा गई अरुणता आँखों में
खुल गये गगन पर तीर चले ॥७४॥

भट भैरव भयानक ने भसे
मृगराज भिन्न नागों से।
झट झपट झपेटों से मारा
अभिमान मल्लों का नखों से ॥७५॥

चामर उदग्र त्रिशक्र बाष्कल
प्रतिलोम ताम्रमुख सुरतापी।
सम्मिलित समर में टूट पड़े
विख्यात चिरन्तन के पापी ॥७६॥

परभेद-चतुर जो देशों में
छिपकर करता था वैर बड़ा।
वह पतित पिटारा पापों का
रण में बिडाल भी उतर पड़ा ॥७७॥

रिपु रहा प्रमुख जो देवों का
अघ पुञ्ज अमित अत्याचारी।
वह चला चमूपति चीक्षुर भी
अति चण्ड चमू लेकर भारी ॥७८॥

सिर शैली की मंजुल पाकर
देवी के तीखे तीर चले ।
घट विकट चिपट घोरे घोरे
चतुरंग चमू को चीर चले ॥ ७९ ॥

ज्यों रण भागों की सेना
उद्धत आँधी की मार पड़ी ।
त्यों पटुल सिर पर चण्डी की
यह प्रलय रूप की घुमड़ पड़ी ॥ ८० ॥

बर्बर असुरों पर बरस चली
बढ बाण चमकते अंगारे ।
नीले जंगल पर टूट पड़े
जैसे अम्बरतल से तारे ॥ ८१ ॥

छिद गये बिखर [illegible] तन मे
प्राणों की [illegible] धीङारों से ।
गुँद गये गदाओं से कितने
कितने कट गये कटारों से ॥ ८२ ॥

हट गये [illegible] हुंकारों से
भग गये [illegible] मारों से ।
चक्रों से कितने चीख उठे
कट गये परशु की मारों से ॥ ८३ ॥

कर खड्ग हजारों हाथों से
जब छोड़ चली उन पर धारा।
खण्डित कर कंठ करोड़ों का
कर दिया समर में निपटारा ॥ ८४ ॥

चामर घायल उद्धत जूझे
सेनापति चीक्षुर अस्त हुआ।
मुद्रित कर भूरी सी आँखें
भूपर बिडाल भी ध्वस्त हुआ ॥ ८५ ॥

सुरसिंह-वाहिनी ने सारी
रिपुसेना का संहार किया।
असुरों के पापों को हनकर
अथवा उनका उद्धार किया ॥ ८६ ॥

तन मार मार महिषासुर को
जर्जरित कर दिया बाणों से।
गर्वित उसकी तलवारों को
कुण्ठित कर दिया कृपाणों से ॥ ८७ ॥

वह सका जहाँ तक मायावी
सब कुछ उतना छल घात किया।
कर निष्फल उसे जगदम्बा ने
अन्तिम उस पर आघात किया ॥ ८८ ॥

गिर पड़ा असुर मूर्छित भू पर
देवी वाहन से उतर पड़ी।
ग्रीवा में शूल अड़ा करके
वक्षस्थल पर हो गई खड़ी ॥ ८९ ॥

फिर भी आधा उठ गया असुर
लड़ने को ज्यों ही सजग हुआ।
तत्काल खड्ग से देवी ने
उसका सिर धड़ से अलग किया ॥ ९० ॥

उस महा असुर के मरते ही
निष्कंटक फिर सुरधाम हुआ।
दानव भी मनमें बोल उठे
पापों का क्या परिणाम हुआ? ॥ ९१ ॥

कट गये किसी के कर्ण अधर
है कटा किसी का एक चरण।
करहीन हुए कुछ अधनयन
अब शेष रहा हा हा क्रन्दन ॥ ९२ ॥

है ओठ नहीं कैसे बोलें?
है पैर नहीं कैसे डोलें?
कर विना कहा से काम करें?
कैसे कुटुम्ब का पेट भरें? ॥ ९३ ॥

हा कौन कहा उपकार करे
कैसे होगा निस्तार अरे?
हा कौन करेगा जीवन की
जर्जर नैया को पार हरे? ॥ ६४ ॥

हे लोभ असुर! तेरा क्षय हो
तू ही विनाश का कारण है।
तेरी दुष्पूर पिपासा में
होते अनर्थ कितने रण हैं? ॥ ६५ ॥

इस देवदेश में आकर के
छल से जो अत्याचार किया।
फल आज उन्हीं पापों का है
विधि ने यह दुख उपहार दिया ॥ ६६ ॥

यह सोच असुर जीवित जो थे
सुर-देश त्याग सब दूर गये।
मिट गया जगत का शोक तिमिर
फिर से छाये आनन्द नये ॥ ६७ ॥

उल्लसित विजय के गीतों से
मंगलमय दुंदुभि शंख बजे।
'श्रीमहिषमर्दिनी की जय हो'
बोले सुर शोणित रण-सजे ॥ ६८ ॥

असुर-रुधिर शोण से कपाली
प्रमुदित सी रण भूमि में जयश्री।
मृगपति पर श्री विराजमाना
रिपुदलनी सुरवंदशक्ति दुर्गा ॥ ६६ ॥



एकादश सर्ग

शक्रादिस्तुति

शक्रादि देव महिषासुर को ससैन्य
निष्प्राण देखकर हर्षित हो नितान्त।
बोले विनम्र मधुर स्तुति अम्बिका की
श्रद्धानुराग नत साञ्जलि मौलि शान्त ॥ १ ॥

हे सर्व देवगण शक्तिसमूह मूर्ति
तू है इसी भुवन में करती निवास।
त्रैलोक्य पालनकरी जय दिव्य शक्ति!
मात! करो सतत दानव दर्पनाश ॥ २ ॥

हे अम्बिके अखिल देव महर्षि पूज्ये!
हे सर्वशक्ति! तुझमें बल है अनन्त!
कैसे हमें विदित हो अतुल प्रभाव
पाते अनन्त विधि भी जिसका न अन्त ॥ ३ ॥

तू पुण्यशील जन के घर में रमा है
पापिष्ठ के भवन में बनती दरिद्रा।
श्रद्धा पवित्र मन में करुणा भली में
दुर्भाग्य दग्ध जन में बलि मोह निद्रा ॥ ४ ॥

तू है कुलीन जन में शुभ शील लज्जा
सद्बोध तू विबुध में खल में अलज्जा।
तू आर्य में विनय नम्र परोपकार
हे देवशक्ति! तुमको नति बार बार ॥ ५ ॥

तू हेतु है जगत की त्रिगुणस्वरूपा
आद्या परा प्रकृति अव्यय निर्विकारा।
कैसे अचिन्त्य वह अद्भुत रूप जानें
मोहादिदोष-हत मानस है हमारा ॥ ६ ॥

संसार मर्म, निगमागम का रहस्य
दोनों समुद्र अति दुर्गम हैं अपार।
पाती न पार इनका यह बुद्धि नौका
तेरी कृपा न मिलती यदि कर्णधार ॥ ७ ॥

तेरा समन्द-मधुर स्मित-कान्तिधारी
चन्द्रानुकारि यह आनन है विशाल।
आश्चर्य है पर वही खल दानवों को
होता प्रतीत कुपितान्तक सा कराल ॥ ८ ॥

हे दिव्यशक्ति! महिषासुरवश तेरी
कोपाग्नि में ज्वलित भस्म हुआ अशेष।
कल्याण देव कुल का जिस भांति से हो
माता! करो अब तथैव कृपा विशेष॥ ६॥

हे विश्व में जन वही सुकृती यशस्वी
सौभाग्यशील सुत मान्य वदान्य धन्य
तू भक्तभीतिहरणी सकलार्थदात्री
हे देवि नित्य रहती जिससे प्रसन्न॥ १०॥

मुक्तिप्रदा सफल हो तुम अर्थविद्या
रक्षाकरी चिरपरीक्षित राजविद्या।
वेदत्रयी विदित हो तुम यज्ञविद्या
आन्वीक्षिकी निगमगम्य मुमुक्षुविद्या॥ ११॥

कर्मानुसार फलनिर्णय में अशक्ता
कैसे किया क्षणिक अन्य जडस्वरूपा।
देती भवान्तरित भोग अनेक भावी
सर्वज्ञ तू न रहती यदि ज्ञानरूपा॥ १२॥

दारिद्र दुःख भय दुर्गति रोग-हारी
तेरा सदा स्मरण है मति शुद्धिकारी।
दुर्गे दयार्द्रहृदये! तुमसे कहीं भी
कोई न है अधिक अन्य परोपकारी॥ १३॥

हो विश्व में अभय शान्ति सुख प्रकाश
हो पापदुःखमय दानव का विनाश ।
ऐसा विचार करके रण जो किया है
सो आप ने उपकार बड़ा किया है ॥ १४ ॥

तेरा कृपाण अति भास्वर देखके भी
हैं त्यागते दनुज भी निज दुश्चरित्र।
क्रूर स्वभाव रखते यदि शत्रु तेरे
है चित्त में अमित किन्तु दया पवित्र ॥ १५ ॥

रक्षा करें जगत की खल दुर्जनों से
तेरी असंख्य सुविशाल महाभुजाएँ।
हे सर्वदेव-गणराशि हमें यही दो
हों देव संगठित शाश्वत शक्ति पायें ॥ १६ ॥

हो शूल तेरा जनशूलहारी
रक्षा करे खड्ग खलप्रहारी।
हो दिव्य घंटा रव आर्तिहारी
प्रचण्ड चापस्वन शान्तिकारी ॥ १७ ॥

माँ चण्डिके! शूल कृपाण धारो
हमें सदा पश्चिम से उबारो।
पूर्वोत्तरा दक्षिण से बचाओ
अभीत सर्वत्र हमें बनाओ ॥ १८ ॥

तेरा सदा शोभित विश्व में हो
प्रसन्न शान्तिप्रिय सौम्य रूप।
अनीति को दूर करे धरा से
सशस्त्र भी घोर कभी स्वरूप ॥ १६ ॥

बोली महाशक्ति सहस्रहस्ता
मैं एकता में करती निवास।
तो भी सुरो! क्या वर मांगते हो
करूँ उसे पूर्ण विना प्रयास ॥ २० ॥

कहा सुरों ने जगदम्ब दुर्गे!
रहा न कोई सुर-कार्य शेष
किया हमारे वध शत्रुओं का
प्रसन्न है आज समग्र देश ॥ २१ ॥

करो यही एक वर प्रदान
हो जीव कोई यदि दुःख-युक्त।
दुर्गे तुम्हारी स्मृति मात्र से ही
तत्काल हो शोक विपत्ति मुक्त ॥ २२ ॥

'तथास्तु, बोली वह भद्रकाली
दी भक्त देवों पर सौम्य दृष्टि।
होने लगी ऊपर से धरा में
सुराङ्गना प्रेरित पुष्प वृष्टि ॥ २३ ॥

हुई सुरों के यह देखते ही
तुरन्त अन्तर्हित दयराशि ।
द्वितीय भी पूर्ण हुआ चरित्र
कहा सुमेधा मुनि ने समाप्ति ॥ २४ ॥

चतुरमति निरायु ने की जो
रुधिर कथा यह ढेर दानवों की ।
चिरतक यह चेतती रहेगी
युग युग में सुख शान्ति मानवों की ॥ २५ ॥

द्वादश सर्ग

तृतीय चरित्र

संगठन कोई किसी भी देश में
प्रेम से पलता नहीं दिन अल्प है।
भाइयों के भी परस्पर भाव को
तोड़ देता स्वार्थमय सङ्कल्प है ॥ १ ॥

जो कलाओं को कहीं से जोड़कर
पूर्ण होता है शशी आकाश में।
छोड़ देती है क्षणिक वे मित्रता
देन उसको क्षीणता के पास में ॥ २

संगठित निजयी सुरों के स्वर्ग में
जो रही सुख शान्ति की विकसित कली।
आत्मसौरभ से मुदित कर देश को
किन्तु वह कुछ काल में मुरझा चली ॥ ३ ॥

नन्दनी सुर हो विजय के गर्व से
हो चले फिर लीन सुख के मेल से।
दे पदाग्नि भी असुर पर पैर से
शक्तिसंचय के लगे उद्योग में ॥ ४ ॥

है सदा अस्थिर विजय संसार में
स्थिर नहीं रहती पराजय भी कहीं।
शक्तिबल का मान पाती है जहाँ
जय-पराजय की तुला झुकती वहीं ॥ ५ ॥

चिर रहा है अटल विश्वास से
सर्वदा होती विजय है धर्म की।
किन्तु है प्रत्यक्ष प्रकटगाथा
जय-पराजय से धर्म और अधर्म की ॥ ६ ॥

क्या नहीं करती विजय उस पक्ष को
जो कहीं होता अधिक बलवान है?
चूर कर देता नहीं अन्याय क्या
न्याय के भी पक्ष का अभिमान है? ॥ ७ ॥

वृष्टियों के घोर धाराघात से
बीत जाती है व्यथित सी यामिनी।
एक क्षण केवल तिमिर के राज्य में
सौख्य देती है उसे सौदामिनी ॥ ८ ॥

रज तमगुण नित्य रहते चित्त में
सत्वगुण का अल्प ही होता उदय।
धर्म की तो जीत होती है कभी
पाप ही तत्काल पाते हैं विजय ॥ ६ ॥

शुभ और निशुभ के नेतृत्व में
सगठित फिर से असुर होने लगे।
क्रूर वे छलनीति से सुरदेश में
भिन्नता के बीज कुछ बोने लगे ॥ १० ॥

पल्लवित अरिनीति की विषवल्लरी
उग्र फल सुरदेश में फलने लगी।
चेतना से हीन कर सुर राष्ट्र को
मोह मद विभ्रान्ति से भरने लगी ॥ ११ ॥

बुद्धिबल से शुभ और निशुभ के
आसुरी दल उग्रता गहने लगा।
जागकर उद्दण्ड वह दावाग्नि सा
विश्व को आतंक से दहने लगा ॥ १२ ॥

अन्त में करके पराजित इन्द्र को
शुभ का शासन चला सुरलोक में।
देव थे सर्वस्व देकर शत्रु को
पक्षहीन विहग जैसे शोक में ॥ १३ ॥

छीनकर सुरसम्पदा अन्याय से
देवभू पर छा गयी दनुमण्डली।
दानवों के हाथ से सुरवंश की
दुर्दशा गोवंश की सी हो चली ॥ १४ ॥

आसुरी अन्याय को निज देश में
इस समय पर्यन्त सुर सहते रहे।
उस परिस्थिति के अशान्त प्रवाह में
धैर्य लेकर शान्ति से बहते रहे ॥ १५ ॥

किन्तु उनकी मौनता में ही छिपी
एक भीषण जो अशान्ति विशाल थी।
फूट चलने के लिये अनुकूल सा
देखती ज्वालामुखी वह काल थी ॥ १६ ॥

एक धार्मिक पर्व का अवसर मिला
देश में एकत्र होने के लिये।
जाह्नवी के नीर में सुरजाति को
दासता का पंक धोने के लिये ॥ १७ ॥

देवगण मिल देवियों के साथ ही
ग्राम पुर-वन शैल से आने लगे।
स्नानकर सुरनिम्नगा के नीर में
चित्त में विश्राम सा पाने लगे ॥ १८ ॥

स्वाभिमानी देश के विद्वान भी
दूर से आकर वहाँ आसीन थे।
दूर कैसे हों असुर सुरभूमि से
लोकहित इस चिन्तना में लीन थे ॥ १९ ॥

दूरदर्शी भूसुरों ने तब कहा
मुक्ति मिलती है तपों से त्याग से।
शीघ्र होंगी दूर बाधाएँ सभी
किन्तु सम्प्रति दिव्य चण्डीयाग से ॥ २० ॥

सर्वसम्मत यज्ञ की यह भावना
हो गई साकार कृत्य-विधान से।
हो गया गुञ्जित गगन संसार का
वेदमन्त्रों के व्यवस्थित गान से ॥ २१ ॥

व्योम गङ्गा भी तरंगित हो चली
यज्ञ के उस दिव्य पावन गन्ध से।
हो गये क्षण में विलक्षण धूम से
दानवी संस्कार सारे अङ्ग से ॥ २२ ॥

अग्नि का मुख आज्यधारा-पान से
जाह्नवी का वारि यज्ञ-स्नान से।
हो गया हतदर्प था [illegible] भी
विश्वहित में पूर्णता-संधान से ॥ २३ ॥

पूर्णता के हेतु सगर्वितान थी
मन्न में मृदङ्ग लिए नव माथ म ।
सूल देखी पा लगे उसे पढ़ा
प्रेममूर्ति पुत्र लेकर हाथ में ॥ २४ ॥

नमो गिरे देवि शरण्यवत्सले ।
नमो महान्नेत्रि सत्य सुन्दरे ।
नमः शुभे प्रकृतिस्वरूपिणी ।
नमो नमो हे अनिर्वाच्यरूपिणी ।॥ २५ ॥

सदैव गौरी हिमशैलवासिनी
त्रिलोकधात्री भवताप-हारिणी ।
सुधांशु में हो तुम चारु चन्द्रिका
सुधामयी लोक-सौन्दर्यकारिणी ॥ २६ ॥

सुकर्म की तू फलरूप सिद्धि है
समृद्ध की है स्थिर भूति संपदा ।
विपत्ति में दुर्गति दुःख-नाशिनी
दयार्द्र दुर्गा तुम देवि हो सदा ॥ २७ ॥

प्रमाद में तू भ्रम धूम्र-मोह है
अमर्ष में काल कराल कालिका ।
विनीत में सौम्य गुण स्वभाव है
कुलीन में सत्कृति कीर्ति मालिका ॥ २८ ॥

समीप आती जिसके न दीनता
कुजाति पाते जिससे कुलीनता।
विशेष जो उन्नति का निशान है
क्रिया वही तू सुख की निधान है॥ २८॥

अनादि माया वह विष्णुदेव की
प्रतीत होता जिसका न पार है।
न जीव पाता जिससे विमुक्ति है
उसे नमस्कार पुनर्नमो नमः॥ ३०॥

अनन्त जो प्राणिसमूह मात्र में
समा रही है वह चारु चेतना।
सचेत है जो करती शरीर को
उसे नमस्कार पुनर्नमो नमः॥ ३१॥

छिपी हुई है इस स्थूल देह में
अदृश्य जो सूक्ष्म विवेक बुद्धि है।
अरोग में जो सुखनींद भूख है
उसे नमस्कार पुनर्नमो नमः॥ ३२॥

प्रसन्न लक्ष्मी कलिहीन गेह में
सुकान्ति है जो कमनीय देह में।
अनेक में जो स्थित एक जाति है
उसे नमस्कार पुनर्नमो नमः॥ ३३॥

अनित्य है नित्य हेतु शक्ति जो
तथा महाशक्ति अनेक रूप में।
सुपुष्ट है जो जिन नाम रूप में
उसे नमस्कार पुनर्नमो नम ॥ ३४ ॥

प्रवृत्त होते जिससे प्रमाद से
सदा मन प्राण शरीर कर्म से।
स्वतः होते निस्तेज बिना सभी
उसे नमस्कार पुनर्नमो नम ॥ ३५ ॥

अपार स्मृति भ्रान्ति तथा स्वरूप से
तथा क्षमा-शान्ति-सुबुद्धि-रूप से।
विभात्य है जो स्थित सर्व भूत में
उसे नमस्कार पुनर्नमो नम ॥ ३६ ॥

सुरस्तुते देवि! नमो वरप्रदे!
नमोस्तु ते नम्र-सुरेन्द्र-सेविते!
सुमंगले मंगल-मूर्ति-धारिणी!
नमो नम शोक-विपत्ति-हारिणी! ॥ ३७ ॥

तथा रहे हैं हम शान्त विश्व को
महाबली दानव आज पाप हैं।
विपत्ति में तो स्तुतिपाठ मात्र से
विपन्न की एक सहाय आप हैं ॥ ३८ ॥

पाठ से इस दिव्य देवीसूक्त के
शक्ति कोई दिव्य सी सहमा जगी।
पास आकर देवियों के मध्य से
पार्वती सुरसंघ में कहने लगी॥ ३९॥

आज गंगास्नान के शुभ पर्व में
धर्म पर यद्यपि उचित अनुराग है।
हे सुरो! तो भी कहो किस हेतु से
हो रहा यह दिव्य चण्डीयाग है?॥ ४०॥

हो प्रकट तत्काल ही बोली गिरा
दानवीदल से दलित सुरेश है।
यज्ञ की इस भावना में दीप्तता
देश का कल्याण लक्ष्य विशेष है॥ ४१॥

देव भूतल की अलौकिक संपदा
आसुरी अधिकार में गत आज है।
बंद हैं सुरवृन्द कारागार में
देवियों की भी न बचती लाज है॥ ४२॥

गेह कितने हो रहे विध्वंस हैं
देह शूलों पर सुलाए जा रहे।
दानवों के क्रूर कृत्यों से अरे!
दुर्दशा में हैं डुबाए जा रहे॥ ४३॥

आतुरी पाने सुरों की कथा
पार्वती के कान में ज्यों ही पड़ी।
क्रुद्ध सी हो पाप चर्चा मात्र से
कान्ति उसकी गौर भी काली पड़ी ॥ ४४ ॥

दानवों का नाश करने के लिए
हो गई गौरी भयंकर कालिका।
रक्त आँखों से उगलने भी लगी
भीषण ज्वाला यथा घन मालिका ॥ ४५ ॥

दीनता भय की भगाती सी हुई
गर्जकर सुरगण में उसने कहा।
त्याग तुमने एकता निज देश में
शत्रु से अपमान कितना है सहा ? ॥ ४६ ॥

एक यद्यपि नित्य सर्वव्यापिनी
विश्व की रक्षक अलक्षित शक्ति है।
एकता से हीन देश समाज को
किन्तु वह देती नहीं वर शक्ति है ॥ ४७ ॥

जीव यदि कोई अकेला दीन हो
साधनों से हीन हो असहाय हो।
ईश्वरी मिलती उसी को शक्ति है
दुख में यदि सर्वथा निरुपाय हो ॥ ४८ ॥

मघ पाता एकता से शक्ति है
संगठन से सम्मिलित उद्योग से।
क्षीण होते देश जाति समाज हैं
ग्रस्त होकर भिन्नता के रोग से ॥ ४६ ॥

एकता है लब्ध यद्यपि यत्न से
किन्तु यह सुरजाति साधनहीन है।
काम देती है न केवल एकता
साधनों के भी विजय आधीन है ॥ ५० ॥

देवगण का दानवों के नाश में
जो हुआ पहले सफल उद्योग था।
एकता के साथ ही उस काल में
साधनों का भी सुलभ संयोग था ॥ ५१ ॥

शुंभ के इस पापशासन-काल में
संगठन का भी नहीं अधिकार है।
युद्ध के साधन सुलभ होंगे वहाँ
जो यहाँ से सात सागर पार हैं ? ॥ ५२ ॥

किन्तु भौतिक शक्ति से भी है परे
शक्ति आध्यात्मिक विशेष वरप्रदा।
दिव्य उसका रूप विद्या बुद्धि है
नाम है उसका भगवती शारदा ॥ ५३ ॥

साधनों की व जनों की न्यूनता
कार्य में बाधा न करती है यदा।
परमेश्वर-स्मरण-प्रसादजनिता
शक्ति मदद प्राप्त करती है जदा॥ ५४॥

जो हमारे मावलों की शक्ति से
कार्य दुष्कर भी नितान्त असाध्य है।
आत्मबल श्रद्धा तथा उन्माद से
जोर में होना वही सुखसाध्य है॥ ५५॥

दैव पर विश्वास करि है धर्म में
आप की संख्या न यद्यपि अल्प है।
किन्तु तुम उत्साह बल से हीन हो
शत्रुओं की सैन्यशक्ति अनल्प है॥ ५६॥

देवगण! तुमसे अधिक इस देश की
देवियों में स्नेह सेवा भक्ति है।
त्याग में भी उच्च ही हैं आपसे
दीखती इनमें विलक्षण शक्ति है॥ ५७॥

ईश्वरी जो आधिदैविक शक्ति है
अङ्गनाएँ सब उसी की अंग हैं।
शत्रु का संहार करने के लिए
युद्ध में वे आज मेरे संग हैं॥ ५८॥

त्याग भेदों को सजग हो जाइये
दुख से उद्धार पाने के लिए।
पार्वती दल अग्रसर है देश की
मुक्ति का बीड़ा उठाने के लिए ॥ ५६ ॥

नीति से प्रज्ञा तथा रण-युक्ति से
दानवों का भार हरने के लिए
मैं सदा आगे रहूँगी संघ के
विश्व का उद्धार करने के लिए ॥ ६०॥

दिव्य शस्त्रों से सुसज्जित देवियाँ
पार्वती-दल के लिए उद्यत हुई ।
जाह्नवी के तीर से प्रस्थान कर
अद्रिवर हिमशैल पर सगत हुई ॥ ६१ ॥

शृंग पर गिरिराज के गिरिनन्दिनी
दनियों के मध्य में आसीन है।
दिव्य जैसे आज पावन भूमि में
भान होती कान्ति एक नवीन है ॥ ६२॥

खेलती है तीर्थ कानन-कुञ्ज में
विश्व की सारी यहाँ रमणीयता।
हंस-कोकिल-कीर के कल नाद से
कूजती स्वयमेव है कमनीयता ॥ ६३ ॥

मन्द मन्द सुगन्ध शीतल वायु में
है भरी गंधा विलासमय भव्यता ।
और पापी भी जहाँ इस काल में
सीख लेता है सुरों की सभ्यता ॥ ६४ ॥

दो असुर स्वच्छन्दचारी घोर से
थे वहाँ रहते वहीं सुर देश में ।
है वहाँ सुर देवियों में भासता
देखते रहते वहीं गिरिदेश में ॥ ६५ ॥

भृत्य थे वे शुम्भ और निशुम्भ के
चण्ड मुण्ड विचित्र उनका नाम था ।
खोज है अति सुन्दरी संसार में
खोजना उनका निरन्तर काम था ॥ ६६ ॥

शीघ्र जा वे शुम्भ से कहने लगे
एक देवी रूप-कान्ति-निधान है ।
देख लें चल आप उसके तेज से
भासता सारा अचल हिमवान है ॥ ६७ ॥

है न कोई विश्व में उस रूप की
अङ्गनाओं में अतुल यह रत्न है ।
'कौन है यह जानकर यह शीघ्र ही
क्यों न उसके हेतु करते यत्न है ? ॥ ६८ ॥

शुंभ ने सुन यह बुलाया दूत को
गुप्त कुछ संदेश कानों में कहा।
दूत ! जा, करना निवेदन युक्ति से
शृंग पर वह सुन्दरी रहती जहां ॥ ६६ ॥

शीघ्र जाकर अम्बिका के सामने
दूत बोला नम्र हो दनुजेश का।
देवि ! हूँ सन्देशहारी शुंभ का
है निवेदन शब्द कुछ संदेश का ॥ ७० ॥

मिल चुकी है विश्व में जिसको विजय
देव जिसका पालते आदेश हैं।
प्रेम के वश हो उसी असुरेश ने
आप को ऐसा किया निर्देश है ॥ ७१ ॥

जीतकर तीनों भुवन हैं वश किए
एकछत्र विशाल मेरा राज है।
है सकल सुरवर्ग अनुगामी बना
क्रोध से डरता सदा सुरराज है ॥ ७२ ॥

अश्व, गज, सर्वस्व अपना इन्द्र ने
भीति-वश मुझको समर्पण है किया।
सिन्धु-मन्थन से मिले जो रत्न थे
छीन उनको भी सुरों से है लिया ॥ ७३ ॥

युद्ध देवी ने कहा, हो वह बली
किन्तु मन मेरा न तजता टेक है।
हो सबल अथवा अबल पर वीर की
सत्य ही होती प्रतिज्ञा एक है ॥७६॥

उस अमर्षित दूत ने जाकर कहा
पार्वती के गर्व को विस्तार से।
धूम्रलोचन को बुला तत्काल ही
दैत्य बोला शुंभ कुपिताकार से ॥ ८० ॥

जा त्वरित ले साथ दानव वाहिनी
दुष्ट है वह गर्विता गिरि में जहाँ।
केश कर्षण से विवश करते हुए
धर्षणा पूर्वक उसे लाओ यहाँ ॥ ८१ ॥

देव जो उसके सहायक हों वहां
अन्य कोई यक्ष भी रक्षक बनें।
जो मिले अथवा वहा सुरवंश का
शीघ्र ही उसको असुर बल से हनें ॥ ८२ ॥

धूम्रलोचन शुंभ के आदेश से
सैन्य लेकर शृंग के ऊपर चढ़ा।
युद्ध क्रुद्ध कहता हुआ आवेश से
पार्वती के पास आने को बढ़ा ॥ ८३ ॥

देखते ही वेग से आते उसे
उछलकर हुंकार देवी ने किया।
तेज से क्षण में दहनकर दैत्य को
भस्म सा निष्प्राण भूतल पर किया ॥ ८४ ॥

अंबिका चढ सिंह पर अति कोप से
चाप भीषण को चढा शर-वर्ष से।
शत्रु-सेना को लगी संहारने
मत्त सी होकर महारण-हर्ष से ॥ ८५ ॥

चीरता संहारता हुंकारता
गर्जता ध्वनि शत्रुगर्ण-भयकरी।
घोर उस रण में भयंकर सा घुसा
धीरता साकार जैसे केसरी ॥ ८६ ॥

पीस देता वह किसी को पैर से
कूद कपट सा किसी को फाड़ता।
फोड़ करके तीव्र पंजों से कहीं
दानवों का दर्प सारा झाड़ता ॥ ८७ ॥

छक होकर दानवों के रक्त से
काल सा रण में लगा वह डोलने।
पापियों के देह दाँतों से उठा
पाप को जैसे लगा वह तोलने ॥ ८८ ॥

शृंग पर श्रीपार्वती के तेज से
युद्ध में जब दैत्य सब मारे गये।
शुंभ से जाकर कहा तब दूत ने
धूम्रलोचन आदि संहारे गये॥९

भुवन-नयन-चन्द्रिका उमा के
मधुर सुधा यदि चन्द्रहास में है।
प्रकट कुपित काल भी उसी के
विषधर-भीषण चन्द्रहास में है॥१०॥

त्रयोदश सर्ग

देवी के फल कोप का यह मिला उद्दण्ड धूम्राक्ष को
पाता जो फल साहसी शलभ है जा आग के सामने।
मित्रों से यह शब्द शुभ सुन के बोला तुला चण्ड को
जायें आप समुण्ड सज्जित वहाँ, लायें उसे या हनें ॥ १ ॥

दोनों दैत्य अपार लेकर चले सेना महादानवी
आये काञ्चनशृङ्ग के निकट में श्रीपार्वती थी जहाँ।
देखा भीषण केसरी पर चढ़ी तेजस्विनी मूर्ति को
मायावी करने लगे ग्रहण का उद्योग सारे वहाँ ॥ २ ॥

आती देख चमू विशाल रिपु की आवेश से क्रोध के
देवी का अति गौर भी मुख रँगा जैसे मसी रंग से।
आविर्भूत हुई ललाट तट से तत्काल ही कालिका
जैसे धूमशिखा उठी विकट सी संयुक्त खट्वाङ्ग से ॥ ३ ॥

शृंग पर श्रीपार्वती के तेज से
युद्ध में जब दैत्य सब मारे गये।
शुंभ से जाकर कहा तब दूत ने
धूम्रलोचन आदि सहारे गये, ॥ ८६ ॥

भुवन-नयन-चन्द्रिका उमा के
मधुर सुधा यदि चन्द्रहास में है।
प्रकट कुपित काल भी उसी के
विषधर-भीषण चन्द्रहास में है ॥ ६० ॥

त्रयोदश सर्ग

देवी के फल कोप का यह मिला उद्दण्ड धूम्राक्ष को
पाता जो फल साहसी शलभ है आ आग के सामने।
मित्रों से यह शब्द शुभ सुन के बोला बुला चण्ड को
जायें आप समुण्ड सज्जित यहाँ, लायें उसे या हनें॥ १॥

दोनों दैत्य अपार लेकर चले सेना महादानवी
आये काञ्चनश्रृंग के निकट मे श्रीपार्वती थीं जहाँ।
देखा भीषण केसरी पर चढ़ी तेजस्विनी मूर्ति को
मायावी करने लगे ग्रहण का उद्योग सारे वहाँ॥ २॥

आती देख चमू विशाल रिपु की आवेश से क्रोध के
देवी का अति गौर भी मुख रँगा जैसे मसी रंग से।
आविर्भूत हुई ललाट-तट से तत्काल ही कालिका
जैसे धूमशिखा उठी विकट सी संयुक्त खट्वाङ्ग से॥ ३॥

जिह्वा लोल महाकराल वदना शार्दूल चर्माम्बरा
आँखें लाल कराल वेश बिखरे माला धरे मुण्ड की।
शुष्काङ्गी कुपित-स्वभाव भयदा चण्डाट्टहास स्वना
काली कंपित खड्ग लेकर चली खाने लगी सैन्य को ॥ ४ ॥

घंटा हौद समेत मत्त चलते मातङ्ग को कुन्त से
भूखे भैरव के लिए स्वल सा ऊंचे उठाने लगी।
आरोही रथ सारथी तुरग को ले एक ही साथ मे
मूली गाजर सा समेट मुख मे चण्डी चबाने लगी ॥ ५ ॥

पीछे झोंक पछाड़ती हुँकड़ती वक्षस्थली फाड़ती
आगे दौड़ मरोड़ गर्जित कहीं ग्रीवा लगी मोड़ने।
भाला झोंक उछालती ममलती भारी गदाघात से
सूखे श्रीफल से कपाल उनके देवी लगी फोड़ने ॥ ६ ॥

धूर्तों को धर मार मार उनकी धज्जी उड़ा दी कहीं
खड्गों से कर खण्ड खण्ड शव से पृथ्वी लगी पाटने।
जैसे ईख उखाड़ तोड़ रख दी मोटी भुजायें कहीं
चक्रों से चट चीर चीर उनकी बोटी लगी बाँटने ॥ ७ ॥

चण्डी उद्भट देख चण्ड सहसा आगे चला मुण्ड भी
बाणों की अति तीव्र वेग रण मे धारा बहाते हुए।
काली के मुख मे प्रवेश करते थे बाण वे दीखते
काले वारिद मे असत्य भनिता जैसे समाते हुए ॥ ८ ॥

देखे दानव दो समक्ष बढ़ते कोपी महाकालिका
दौड़ी ले तलवार तत्क्षण उठी उन्मत्त सी हो चली।
खोला आनन अट्टनाद करके ज्यों ही महाकाल सा
भागे शत्रु तरसः देख उनकी दुर्दर्श दन्तावली ॥ ९ ॥

दोनों के गह केश एक कर में निस्त्रिंश ले अन्य में
काटे चञ्चल चण्ड मुण्ड पशु दो श्रीकालिका ने वहाँ।
दोनों मुण्ड सराक्ष लेकर चली बोली महाशक्ति से
लाई हूँ उपहार युग्म रण से हे अम्बिके! लो यहाँ ॥ १० ॥

देखे शोणित लिप्त छिन्न सिर दो ज्यों चण्ड के मुण्ड के
बोली हर्षित अम्बिका विजयिनी तू कालिका धन्य है।
तू ने उत्कट चण्ड मुण्ड दल का संहार है जो किया
चामुण्डा इस नाम से जगत में पूजा लहेगी सदा ॥ ११ ॥

दूतों से जब चण्ड मुण्ड-वध का वृत्तान्त सारा सुना
पापी शुंभ निशुंभ के हृदय में चिन्ता चिता सी जली।
सेनानी-समुदाय को तुरत ही आदेश दे युद्ध का
आगे वे स्वयमेव गर्वित चले पीछे चमू मण्डली ॥ १२ ॥

धौम्री-कालक-कालनेय-कुल के मूरादि के वंश के
आये दैत्य पचास कोटि रण में दैत्येश के साथ में।
भारी देख समुद्र सी उमड़ती शुंभासुरी वाहिनी
देवी सज्ज हुई स्वयं धनुष को टंकारती हाथ में ॥ १३ ॥

व्यापा चाप निनाद घोर उसका भू व्योम के मध्य में
देवीवाहन सिंह भी कुपित हो आगे लगा गर्जने।
दोनों के रव को महागगन में नीचे दबाती हुई
दुष्टों को घननाद घोर करके काली लगी तर्जने ॥ १४ ॥

देवों के अनुरूप वाहन तथा शस्त्रादि से सज्जिता
चामुण्डादल में उपस्थित हुई सारी वहां देवियाँ।
ब्रह्माणी कर में कमण्डलु लिए माला धरे अक्ष की
आई हंसविमान से भुवन में आलोक सा छा गया ॥ १५ ॥

श्रीदेवी गरुडध्वजा गरुड से चक्रायुधा वैष्णवी
इन्द्राणी गज से सहस्रनयना वज्रच्छटा मण्डिता।
रुद्राणी वृषभध्वजा भवती आईं वृष-स्कन्ध से
कौमारी उतरी मयूर-रथ से शक्ति-प्रभा-भूषिता ॥ १६ ॥

दैत्यानीक विदारिणी अभयदा देवी नृसिंही तथा
वाराही प्रकटी महासमर में दैत्य व्रज ध्वंसिनी।
व्यूहों में सुविभक्त दिव्य बल से जो एक सेना सजी
थीं वे भिन्न पवित्र देवकुल की दैवी महाशक्तियाँ ॥ १७ ॥

देती सी रिपु को क्षमा तब शिवा बोली महादेव से
हे शंभो! सुरदूत आप बन के जायें कहें शुंभ से।
त्यागें दानव देवदेश सहसा जायें यहां से चले
चामुण्डादल अन्यथा अब नहीं आगे करेगा क्षमा ॥ १८ ॥

दैत्यों के पति से निवेदन किया प्रस्ताव को शंभु ने
दुष्टों को सुरदेश मुक्त करके जाना न अच्छा लगा।
आये लेकर शत्रु भेद शिव भी बोले महाशक्तियो!
संहारो बल से विमर्दित करो दो दानवों को भगा ॥ १६ ॥

आज्ञा पाकर रुद्र की चढ चली सेना महाभैरवी
दौडे संमुख शत्रु भी समर में सेना लिए दानवी।
दैवी गर्वित शक्ति आत्मबल से शस्त्रास्त्र से आसुरी
दोनों काल अतृप्त को रुधिर की देने लगीं दक्षिणा ॥ २० ॥

वात्या सी अति शीघ्र शक्तिदल के आगे चली कालिका
ऊँचे दानव तोड तोड तरु सा नीचे गिराने लगी।
ब्रह्माणी निज मन्त्र सिद्ध जल के आसेक से ही वहाँ
किंकर्तव्य विमूढ तेजहत से वैरी बनाने लगी ॥ २१ ॥

रुद्राणी शिव शूल से अरिगणों को वैष्णवी चक्र से
कौमारी निज शक्ति से कुलिश से ऐन्द्री लगी काटने।
वाराही निज तुण्ड से, नखर से तीखे नृसिंही तथा
दुष्टों को कर खड्ग लेकर महाचण्डी लगी चाटने ॥ २२ ॥

देखा घोर विनाश दैत्यदल का दैवी महाशक्ति से
आया दानव रक्तबीज रण में मारी गदा को गहे।
अंगों से यदि रक्त बिन्दु उसके आती चली भूमि में
योधा अन्य उसी-समान उससे उत्पन्न होते रहे ॥ २३ ॥

ऐन्द्री ने उस दैत्य को समर मे ज्यों ही हना वज्र से
त्यों ही पीन शरीर से रुधिर की अश्रान्त धारा चली।
रक्तों के कण से लगे उपजने योधा असंख्यों वहां
ले ले घोर गदा चले असुर वे तत्काल आगे बली ॥ २४ ॥

देखा शोणित बिन्दु से उपजते रक्तासुरी संघ को
चण्डी से कहने लगी भगवती आदेश देती हुई।
चामुण्डा ! मुख को विशाल कर ले घोरा शिवारूपिणी
वैरी की यह वृद्धि दूर कर दे तू रक्त लेती हुई ॥ २५ ॥

शूलों से असि से तथा परशु से महेश्वरी शक्ति के
पापी का अति पीन देह सहसा नीरक्त होने लगा।
चामुण्डा भरने लगी रुधिर के खाली घड़े प्यास से
प्राणों को तज रक्तबीज रज मे निस्तेज सोने लगा ॥ २६ ॥

देखा दैत्य निशुंभ ने समर मे ज्यों ही उसे जूझते
चामुण्डादल के समीप सहसा आया रथारूढ हो।
बाणों से उसके महाकुपित भी देवी महाशक्ति भी
वैरी के दल को लगी विदलने पञ्चाननारूढ हो ॥ २७ ॥

कूदा सिंह समीप दैत्य रथ के देवी उठी घात में
मारा शूल निशुंभ के हृदय मे छाया पड़ी मन्द सी।
अंगों को धुनता हुआ खर यथा नीचे लगा लोटने
जिह्वा आ निकली सफेन मुख से आँखें हुई बन्द सी ॥ २८ ॥

दम्भा सगर में गिरा अनुज को आया स्वय शुभ भी
देवी को कहने लगा कुपित हो "ओ गर्विते ! आय हाँ"
चामुण्डादल के विशाल बल से है गर्व तेरा वृथा
जो यावें प्रण की रही प्रथम थीं है शक्ति तेरी कहाँ ? ॥ २६ ॥

सेना के वध मात्र से कर रही क्यों शक्ति का गर्व तू ?
है तेरे यदि दर्प बाहु-बल का तो मल्लसंग्राम हो।
होवे निर्णय आज मल्लरण से देवासुरी युद्ध का
दोनों ही दल दूर हों, समर का तत्काल विश्राम हो ॥ ३० ॥

बोली श्रीजगदम्बिका असुर से रे नीच दुष्टाधम !
है प्रत्यक्ष तुझे न देवकुल मे मेरी छिपी शक्ति का।
मैं हूं एक अजेय शक्ति इनमें ऐसी जगद्-व्यापिनी
सोचूं तो क्षण में विनाश कर दूं मैं दानवीशक्ति का ॥ ३१ ॥

देवी यों कह मल्लवेष सहसा आगे बढ़ी शुंभ के
आज्ञा ले सब देवियां समर से प्रच्छन्न होने लगीं।
ज्यों ही दानव को घुमाकर हना भूखण्ड मे दण्ड सा
फूलों की अभिराम वृष्टि नभ से तत्काल होने लगी ॥ ३२ ॥

वेधा दानव के कठोर उर मे शूलाग्र को वेग से
देवाराति हुआ गतासु यम के सोने लगा अंक में।
देवों के शुचि देश से गत हुई छाया महापाप की
जागे भूतलभाग्य भूरि, चिर से जो मग्न थे पंक में ॥ ३३ ॥

सारा विश्व हुआ प्रसन्न मन में उन्मुक्त आतंक से
यज्ञों में फिर शान्ति से अनल भी लेने लगी हव्य को।
फूले पंकज वायु शीतल बही शोभा लसी व्योम में
गायें हो सब कामधेनु फिर से देने लगीं गव्य को ॥ ३४ ॥

देवों की विजयध्वजा कह रही थी गर्व से विश्व को
मैं हूँ एक अजेय शक्ति रिपु से सीखा नहीं भीति है।
दुष्टों की चिरकाल है न चलती माया यहा आसुरी
प्राचीना सुरसभ्यता न तजती स्वाधीनता नीति है ॥ ३५ ॥

सिंहाधिरूढ रण सज्जित पार्वती की
शैलाधिराज पर शोभित थी पताका।
आरंभ पूजन हुआ सुरमण्डली में
नारायणी स्तवन से जगदम्बिका का ॥ ३६ ॥

चतुर्दश सर्ग

नारायणीस्तुति

सुरेन्द्रवैरी जब पार्वती के
त्रिशूल मे दैत्य हुआ गतासु।
स्वतन्त्रता से तब देव सारे
मिले वहा हर्षितचित्त आशु ॥ १ ॥

सुरेश्वरी को करके प्रणाम
सभक्ति संयोजित-युग्म-पाणि।
प्रशस्त एक-स्वर भाव युक्त
विनम्र बोले स्तुति रम्यवाणी ॥ २ ॥

नमोस्तु विश्वेश्वरि दिव्यरूपे!
दया करो देवि महानुभावे!
प्रपन्न की दूर करो विपत्ति
हरो अविद्या करुण-स्वभावे! ॥ ३ ॥

हे पूज्य सत्राश्रय जन्मभूमि।
तू एक है केवल विश्वमाता।
अनन्तरत्ना सुजला सुपुष्पा
सदान्नपूर्णा जय राष्ट्रमाता ! ॥ ४ ॥

अपार संसार-समुद्र में तू
पवित्र है एक अनादि सेतु।
प्रसन्नता केवल आप की है
वसुन्धरा में सुख शान्ति हेतु ॥ ५ ॥

हैं व्याप्त तू यद्यपि एकरूपा
हैं दिव्य तेरे पर दो स्वरूप।
अन्वीक्षिकी वेद-पुराण विद्या
स्त्रीजाति सन्तानवती मनोज्ञा ॥ ६ ॥

काष्ठा-कला रात्रि दिन-स्वरूपी
है रूप तेरा परिणाम-कारी।
अचिन्त्य हे अद्भुत कालरूपे !
नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ ७ ॥

हे त्राणदाता ! शरणागतों की
हे प्राणदाता ! परिपीड़ितों को।
हे दीन के हेतु दयार्द्रचित्ते !
नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ ८ ॥

अनेक बाधा भय बाधती हो
सर्वार्थ को भी तुम साधती हो।
शिवा महामंगलमूल गौरी।
नारायणी देवि! नमो नमस्ते ॥ ९ ॥

लिए करों में वर अक्षमाला
सुपात्र में पावन वारिधारा।
हे हंसयानस्थित ब्रह्मशक्ति!
नारायणी देवि! नमो नमस्ते ॥ १० ॥

त्रिशूलहस्ता वृषभाधिरूढा
भुजंगहारा धृतचन्द्ररेखा।
माहेश्वरी हो तुम सिद्धशक्ति
नारायणी देवि! नमो नमस्ते ॥ ११ ॥

धन्वा-गदा-वारिज-चक्रधारी
हैं चार तेरे कर विश्वभारी।
हे विश्वरक्षारत विष्णुशक्ति!
नारायणी देवि! नमो नमस्ते ॥ १२ ॥

हैं भूमि को दैत्य जहां दबाते
अन्याय के सागर में डुबाते।
है तू वहां आदि वराहशक्ति
नारायणी देवि! नमो नमस्ते ॥ १३ ॥

करात जो अद्भुत रूप धारे
कराग्र से दानव को विदारे।
है तू वही घोर नृसिंहशक्ति
नारायणी देवि नमो नमस्ते ॥ १४ ॥

है रूप तेरा असुरान्तकारी
मयूर है वाहन ब्रह्मचारी।
तू है महाशक्ति सदा कुमारी
नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १५ ॥

किरीटिनी वज्र लिए खड़ी है
सहस्र आँखें अरि पै चढ़ी हैं।
महागजासीन महेन्द्रशक्ति !
नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १६ ॥

दुर्दश दंष्ट्रा मुख है विशाल
है खड्ग तेरा रिपुवंश-काल।
काली कराली धृतमुण्डमाले !
नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १७ ॥

सर्वेश्वरी हो तुम सर्वरूपा
हो पूर्ण सारी तुम शक्तियों से।
सदा भयों से हम को बचाओ
नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १८ ॥

त्रिनेत्र विभ्राजित विश्वभासी
प्रसन्न तेरा मुख रूप राशि।
रक्षा करे सतत दानवों से
नारायणी देवि ! नमो नमस्ते ॥ १६ ॥

महाप्रचण्ड ध्वनि जो सुनाता
है दानवों को रण मे भगाता।
तेरा वही जागृति-नाद घंटा
प्रमाद से नित्य हमें उबारे ॥ २० ॥

जो रक्तधारा रण में बहाती
है जो उसीमे अरि को डुबाती।
तेरी वही घोर कृपाण-धारा
सदैव कल्याण करे हमारा ॥ २१ ॥

संतुष्ट हो रोग सभी मिटाओ
असुष्ट हो काम नहीं नशाओ।
अनन्य तेरे हम भक्त धन्य
रहें सदा आश्रय मे प्रसन्न ॥ २२ ॥

तू ने कई अद्भुत रूप धारे
अनेक हैं दानव उग्र मारे।
है एक भी तू बहुधात्ममूर्ति
नमो महाशक्ति अचिन्त्यमूर्ति ! ॥ २३ ॥

भरे जहां हों विष से भुजंग
उठे जहां सागर में तरंग।
चले जहां चण्ड महासमीर
दवाग्नि हो लग्न जहां अधीर ॥ २४ ॥

अधर्म से धर्म जहां गिरा हो
अनेक हिंसा-छल से घिरा हो।
करें जहां राक्षस विश्वताप
वहां करे त्राण तव प्रताप ॥ २५ ॥

हों दूर उत्पात भयोपसर्ग
संसार के पातक दु:खदाता।
तेरी सदा दृष्टि रहे दयार्द्र
यही हमें दो वरदान माता ! ॥ २६ ॥

जहां कहीं भी हम दुःख पावें
जहां तुझे संकट में बुलावें।
तेरा वहां उज्ज्वल चन्द्रहास
करे हमारे दुःख का विनाश ॥ २७ ॥

हे सर्व विश्व भय भंजनि देवि ! तेरा
दे विश्व को अभय नित्य मृगेन्द्रनाद।
संप्राप्त हो भुवन में हमको सदा ही
कल्याणमूल भवदीय वर प्रसाद ॥ २८ ॥

ब्रजेश गोरक्षक नन्द होंगे
तथा यशोदा ब्रजराजरानी।
होगी उसी के शुभ गर्भ से ही
तेजस्विनी नन्दसुता भवानी ॥ ४ ॥

वही करेगी कलि दानवों का
विनाश गोपव्रज की तनूजा।
सदैव विन्ध्याचल में लहेगी
वही महाशक्ति विशेष पूजा ॥ ५ ॥

अकाल का भीषण काल होगा
होगी कई वर्ष नहीं सुवृष्टि।
दुर्भिक्ष से पीडित मानवों पै
मेरी पडेगी शतसंख्य दृष्टि ॥ ६ ॥

मनुष्य के हेतु कई पवित्र
मैं शाक उत्पन्न वहा करूंगी।
शाकम्भरी हो अथवा शताक्षी
दुर्भिक्षता भारत की हरूंगी ॥ ७ ॥

मदान्ध जो दानव दुर्ग होगा
उसे रणों में स्वयं मैं हनूंगी।
निवारिणी दुर्गति दीनता की
प्रसिद्ध दुर्गा तब मैं बनूंगी ॥ ८ ॥

विख्यात जो आरुण दैत्य राजा
होगा महादारुण विश्वतापी।
तो भ्रामरी का अवतार मेरा
अवश्य होगा उसका समापी ॥ ६ ॥

होगी जहा भू पर दस्युबाधा
जहाँ लहेंगे जन साधु शूल।
वहा वहीं शाश्वत एक शक्ति
उत्पन्न होगी समयानुकूल ॥ १० ॥

महापवित्र स्तुतिपाठ मेरा
जो भी करेंगे नर भक्तियुक्त।
मैं सर्वबाधा उनकी हरूगी
सदा रहेंगे भय दुःख मुक्त ॥ ११ ॥

संहारगाथा मधु-कैटभों की
चरित्र मेरा महिषान्तकारी।
निशुंभ शुंभादि विनाश-लीला
हैं शक्ति के तीन महत्व भारी ॥ १२ ॥

सदा पढ़ेंगे नर भक्ति से जो
तीनों महाशक्तिकथा पवित्र।
होगी नहीं दुष्कृत जन्य पीडा
न दुःख देंगे उनको अमित्र ॥ १३ ॥

दरिद्रता, इष्टवियोग-दुःख,
त्रिताप, पापग्रह, रोग, मारी।
दुर्दैव, आँधी, जल, अग्नि, शाप
कभी न होंगे उनके विकारी ॥ १४ ॥

महास्त्रपात नहीं रणों में
न सिंह शार्दूल कहीं वनों में।
होंगे नहीं दस्यु अनिष्टकारी
न दुःख देगा नृप रुष्ट भारी ॥ १५ ॥

विवाह, पूजा, व्रत, होम, यज्ञ
करें जहाँ उत्सव का विधान।
यहाँ घरों में सुरमन्दिरों में
पढ़ो इसे मनन सावधान ॥ १६ ॥

दुःस्वप्न का दर्शन, दुर्निमित्त,
प्रकोप बालग्रह का जहाँ हो।
कुटुम्ब में मंगलशान्तिकारी
चरित्र का पाठ सदा वहाँ हो ॥ १७ ॥

होती शरत्काल समय में है
जो चण्डिका की नवरात्र भक्ति।
पढ़ो पढ़ो भगवतीचरित्र
लहो इसी से सुख वित्त शक्ति ॥ १८ ॥

एकान्त मे बन्धन मे पडे हों
अमित्र पीछे जिसके पडे हों।
महानदी-पर्वत में डरे हों
अरण्य के जन्तु जहा भरे हों ॥ १६ ॥

जहा खलों का दल आ रहा हो
अन्याय का शासन छा रहा हो।
अनार्य हों दानव गर्व माते
अनेक आतंक जहा मचाते ॥ २० ॥

कराल सा कोप जहा जगा हो
यथार्थ भी शूल जहा लगा हो।
वहा महाशक्ति चरित्र सूक्त
सदा करेगा भय से विमुक्त ॥ २१ ॥

अशेष उत्पीडन वेदनाएँ
व्यामोह विद्वेष भय व्यथाएँ।
मैं विश्व से दूर सदा करूंगी
भारी महासंकट की घटाएँ ॥ २२ ॥

हुई उसी पर्वत में अदृश्य
सुरेश्वरी देकर सुप्रबोध।
स्वदेश को देख समृद्धिशाली
हुआ सुरों को निज शक्ति बोध ॥ २६ ॥

यहा हुई पूर्ण सरस्वती के
चरित्र की चारु कथा पुरानी।
महर्षि बोले फिर तत्त्वदर्शी
है मोद का हेतु यही भवानी ॥ २४ ॥

कहे गये हैं इस शाश्वती की
उत्पत्ति के तीन यहाँ प्रकार।
है व्यक्त ऐसी वरदान तोभी
अव्यक्त भी है यह निर्विकार ॥ २५ ॥

है विश्व की शक्ति यही रुपाली
भक्तों की सिद्धि सदा जगाती।
है नेत्र में ज्योति यही निराली
विचार की ज्योत यही जगाती ॥ २६ ॥

है मोह की कारण एक माया
यही समाधान यहां सुनाया।
न आज ही किन्तु अतीत मे भी
था विश्व मे दारुण मोह छाया॥ २९॥

विद्वान भी मोहित हो चुके हैं
होंगे पुन मोहित भी अनेक।
इसीलिये संप्रति आपका भी
है मोह से मन्द हुआ विवेक॥ ३०॥

विपत्ति में है गति एक तेरी
बनो उसीका चरणानुसेवी।
दयामयी है यह विश्वधात्री
विभूति-विद्या-अपवर्ग-दात्री॥ ३१॥

उपासना मे उसकी मिटेगा
स्वदेश का घोर कुभाग्ययोग।
समाधि को भी उसकी कृपा से
न दुःख देगा गृह का वियोग॥ ३२॥

अचिन्त्य अज्ञेय तथा अलक्ष्य
अतर्क्य है यद्यपि दिव्यशक्ति।
पाती उसे किन्तु उपासना से
श्रद्धामयी केवल नम्र भक्ति॥ ३३॥

अतीव है शक्ति रहस्य गूढ़
न जान पाते उसको विवादी।
न संशयी नास्तिक गर्वयुक्त
न मत्सरी तार्किक बुद्धिवादी ॥ ३४ ॥

है बुद्धि तो मानव की अशुद्ध
तीनों गुणों की घर है विकार।
विकारिणी को कब लक्ष्य होगा
जो तत्त्व है निर्गुण निर्विकार ? ॥ ३५ ॥

जहाँ भरे हैं भ्रम लोभ मोह
जो क्रोध से है करती अनर्थ।
होगी वही बुद्धि जडस्वरूपा
क्या सत्य के निर्णय में समर्थ ? ॥ ३६ ॥

हों तत्त्व जो लौकिक बोधगम्य
है युक्त भी तर्क वहाँ चलाना।
अतर्क्य में तर्क विवाद-युक्ति
अयोग्यता है निज की दिखाना ॥ ३७ ॥

है बुद्धि से भी पर दिव्य शक्ति
देवी स्वयंज्योति विकासमाना।
विश्राम में तो वह भक्त के है
प्रत्यक्ष ही नित्य विराजमाना ॥ ३८ ॥

भजें उसी को तुच्छ काल व्याप
विश्वास से होकर मूक अन्ध।
उद्भूत होगी वह साधना से
जैसे कली में स्वयमेव गन्ध ॥ ३६ ॥

हैं सिद्धि के साधक सिद्ध तन्त्र
देवीमहासूक्त नवार्ण मन्त्र।
जपो इसे होकर शुद्धभाव
देखो महमन्त्र-जप प्रभाव ॥ ४० ॥

विधान से दे तब मन्त्र दीक्षा
किया कथा का मुनि ने विराम।
नरेन्द्र के साथ समाधि ने भी
किया सुमेधा गुरु को प्रणाम ॥ ४१ ॥

अवगत था दोनों को हुआ मोह हेतु
पर सरल नहीं है मुक्ति की भी समस्या।
घनतिमिर निराशा दुःख के नाश हेतु
अति कठिन अभी तो साधनी है तपस्या ॥ ४२ ॥



षोडश सर्ग

है नहीं गगन में घन आँधी
प्रात भी विगत, रात नहीं है।
मन्द भानु-मुखमण्डल-शोभा
किन्तु आज अवदात नहीं है ॥ १ ॥

धूलि धूसरित दीख रही है
कान्तिहीन अति खिन्न दिनश्री।
मौनता-कलित कोकिलबाला
दावताप-भयभीत वनश्री ॥ २ ॥

धूम संकुलित अन्ध दिशाएँ
तोय से रहित निर्झर वापी।
क्यों निदाघ दहता जगती को
दर्प से दनुज है यह पापी ? ॥ ३ ॥

पाप-पंक-धर शूकर सारे
दस्यु से अभय डोल रहे हैं।
ग्लानि से मनुज-तुल्य मनस्वी
कज भी न मुख खोल रहे हैं ॥ ४ ॥

ताप से व्यथित कानन में भी
पशु जीव सब हैं अकुलाते।
व्यग्र व्यग्रगति से सरिता के
पास प्यासवश हैं मिल आते ॥ ५ ॥

देख शत्रु जलदागम आगे
ज्येष्ठ भी समय भाग चला है।
शुभ्र हैं न कर भी सविता के
ताप उग्र पर जाग चला है ॥ ६ ॥

वारि शान्त, शुचि शीतल धारा
रम्य तीर्थ, मुनिग्राम यही है।
तीरभूमि मृदु है सिकता से
किन्तु दृश्य अभिराम नहीं है ॥ ७ ॥

हैं निवृत्त मुनि मज्जन से भी
एक याम दिन दूर चढ़ा है।
धूल है न सहती पद तो भी
क्यों अपार यह कोप बढ़ा है? ॥ ८ ॥

है पराल यह काल विदाही
विश्व में अमित आग जलाये ।
तप्त तीर पर किन्तु उसीमें
ध्यान हैं युगल भक्त लगाये ॥ ९ ॥

शान्त शुद्ध कर में रुद्र माला
दान्त मौन मन में जप जापी ।
आज्य-दीप्त-हवनाग्नि शिखा से
तप्त कान्ततनु हैं तप-तापी ॥ १० ॥

शक्तिमूर्ति धरणीमय देवी
अम्बिका विपुलकेशकदम्बा ।
सिंहपीठ पर हैं स्थित आगे
दैत्य-दर्प-दलनी जगदम्बा ॥ ११ ॥

गन्ध माल्य कुसुमासव धूप
दीप आदि बलिवस्तु सजाये ।
वे सभक्ति करके पदपूजा
हैं अखण्ड वर-जोति जगाये ॥ १२ ॥

धेनुदुग्ध-शुचिकन्द-फलाशी
वारिवृत्ति अथवा उपवासी ।
हैं स्वकर्मरत साधक दोनों
मौनवृत्ति अथवा मितभाषी ॥ १३ ॥

काय कर्म मन संयत वाणी
हों अभिन्न जिनके व्रतधारी।
सत्य-शील-शम-भूषित वे हों
क्यों न योग्य तप के अधिकारी ?॥ १४॥

एक शान्तिमय तीर्थनिवासी
एक भाँति गुरु-शक्ति-उपासी।
एकरूप तप में रत भी वे
हैं न एक फल के अभिलाषी ॥ १५॥

एक योग जप साधन एक
इष्ट एक गुरु मन्त्र न भिन्न।
बद्धमूल उनके मन में हैं
किन्तु कर्मवश मोह विभिन्न ॥ १६॥

एक के हृदय-मध्य भरा है
नष्ट राज्य-ममतामय मोह।
एक के हृदय को दहता है
गेह-वित्त-सुत-दार-विछोह ॥ १७॥

एक के प्रबल शत्रु विदेशी
म्लेच्छ हैं अशुचि आर्य विरोधी।
लोभ मोह निज अन्तर-वैरी
एक के सुकृत-कार्य-विरोधी ॥ १८॥

एक के निहित मानस में है
देश धर्म-कुल का अभिमान।
भूलता निमिष मात्र नहीं है
एक को स्वजन से अपमान ॥ १६ ॥

एक को न निज जन्मधरा में
सह्य है असुरशासन-पाश।
अन्य को न रुचता कुछ भी है
ज्ञानहानिकर भोग विलास ॥ २० ॥

एक काय-मन से वचनों से
देश मुक्ति-हित है अनुरागी।
गेह बन्धु तज बन्धनरूपी
आत्ममुक्ति-हित एक विरागी ॥ २१ ॥

एक जीतकर दानवता को
चाहता त्वरित है प्रतिशोध।
युक्ति से अपर भी लखता है
मृत्यु के विजय हेतु सुबोध ॥ २२ ॥

एक का चरम लक्ष्य यहीं है
विश्व सगठन में शुभ योग।
एक का अचल है सुख लक्ष्य
सारहीन-चल-सौख्य-वियोग ॥ २३ ॥

दूर हों असुर भारतभू से
एक की सरस है अभिलाषा।
ताप-तप्त उर में उमड़ी है
एक के प्रबल मुक्ति पिपासा ॥ २४ ॥

एक के हृदय में सचिवों का
द्रोह-कार्य व्रण तुल्य हरा है।
एक के श्रवण में गृहिणी का
तीक्ष्ण दुर्वचन बाण भरा है ॥ २५ ॥

भिन्नरूप बहुधा उठते हैं
भिन्न मानसिक भाव तरंग।
हैं अकम्प पर जो दृढचेता
शक्य है न उनका व्रत-भंग ॥ २६ ॥

नित्य कर्मरति ईश्वरभक्ति
धर्मशास्त्ररुचि शुद्ध विवेक।
ध्यान योग उनसे करते हैं
दूर सिद्धिपथ-विघ्न अनेक ॥ २७ ॥

सिद्धिमूल गुरुदेवजनों की
स्नेहपूर्ण करुणा रहती है।
साध्य-लक्ष्य पर साधन-नौका
सानुकूल उनकी बहती है ॥ २८ ॥

सूक्तपाठ करके, जप मन्त्र
चित्त शोध, रख चारु चरित्र।
प्राण संयमन से उनका है
हो रहा विमल भाव पवित्र ॥ २९ ॥

एक एक करके तप के ज्यों
नित्य रात दिन बीत रहे हैं।
वे तपोनिरत शान्त तपस्वी
द्वन्द्व दुःख सब जीत रहे हैं ॥ ३० ॥

उष्ण शीत जलवृष्टि हिमानी
प्यास भूख सुख से सहते हैं।
कीट दंश-युत निर्जन में भी
धीर वृक्ष सम वे रहते हैं ॥ ३१ ॥

देखते दिवस में उनके हैं
उग्र ताप सरिता वन साखी।
अन्धकारमय किन्तु निशा में
एक मात्र उडु हैं ध्रुव साखी ॥ ३२ ॥

क्षीण काय उनके दिन में जो
चण्ड निष्करुण भानु तपाता।
चन्द्र शीत कर से उनको है
रात में अमृत सींच बुझाता ॥ ३३ ॥'

है प्रचण्ड चलती जब आँधी
धैर्य हैं सहज भी तरु खोते।
धूल में अचल-तुल्य अकम्पी
धीर वे न पर शंकित होते ॥ ३४ ॥

श्रेयहेतु जिस भारतभू के
भूप वैश्य तप साध रहे हैं।
देश की उस पवित्र धरा को
गर्व से असुर बाध रहे हैं ॥ ३५ ॥

धर्महीन धनलोलुप सारे
हैं अमात्य रिपु के अनुकूल।
दस्यु से दलित आर्यधरा के
भाग्यचक्र गति है प्रतिकूल ॥ ३६ ॥

राजभृत्य सब वेतनजीवी
हैं अकार्य करते बन अन्धे।
ढो रहे असुरशासन को भी
गर्वहीन जिनके दृढ़ कंधे ॥ ३७ ॥

धर्म की परम पावनता में
पाप का उदय आज हुआ है।
था जहा सतत बुद्धि-विकाश
हा ! वहीं असुर राज्य हुआ है ॥ ३८ ॥

था जहां जगत तृप्त नरों से
त्याग मात्र नरजीवन-सार।
हा! उसी अवनि में असुरों का
हो रहा अशुभ है अविचार॥ ३९॥

स्वाभिमान-बल-वैभव-शाली
हो जहाँ मनुज जाति सुशीला।
कालचक्र गति से उसमें ही
क्यों अभव्य यह दानव लीला?॥ ४०॥

भूरि कोश, अति दुर्गम दुर्ग,
नीति गूढ़, जनशक्ति अजेय।
हों जहा पुरुष वीर विजेता
क्यों सुदेश वह दस्यु निवेय?॥ ४१॥

अग्रगण्य जिस भारत में हो
क्षत्रवंश रिपुसंघ-विदारी।
क्यों प्रमाद वश चोर उसी में
हों प्रविष्ट धन-गौरव-हारी?॥ ४२॥

हो अनन्त जिसमें धनराशि
दुग्धपूर्ण सरिता-सम गायें।
कामधेनु सम आर्यधरा को
क्यों कुजाति बल से अपनायें?॥ ४३॥

स्वाधिगम्य निगमागम शिक्षा
ज्ञात सर्वविध शिल्प कला है।
आर्यजाति विदुषी यह तो भी
क्यों अरातिदल से विकला है? ॥ ४४ ॥

एक एक रिपु चाट चुकी है
काल-जीभ जिसकी असिधारा।
आज सबल हीन यहाँ क्यों
है अलभ्य रिपुसिन्धु किनारा? ॥ ४५ ॥

राष्ट्र पोत पतवार बिना ही
दुःख के भँवर-मध्य पड़ा है।
दस्युचक्र-छल की लहरों में
शान्तिहीन भयभीत खड़ा है ॥ ४६ ॥

आत्म बुद्धि बल मोह निशा में
मन्द-भाग्य-वश लुप्त हुआ है।
आर्यवीरजननी अवनी का
पूर्व बाहुबल सुप्त हुआ है ॥ ४७ ॥

ग्रीष्म दूर कर पावस आई
मेघ वारि बरसे भरपूर।
राष्ट्र के हृदय का उसमें भी
हो सका कठिन ताप न दूर ॥ ४८ ॥

दाव शान्त हरिता वनराजी
मोर हैं मधुर शब्द सुनाते।
खेत में कृषक किंतु कहीं भी
हैं नहीं मुदित सावन गाते ॥ ४६ ॥

चारु कोरकित गौर कदम्ब,
वारिपूर्ण सर, कैरव फूले।
आज भी भवन-मध्य किसी के
हैं नहीं रचित सुन्दर झूले ॥ ५० ॥

बाग में सुमन से हँसते हैं
मालती नकुल केतक बेला।
किन्तु है न भरता पहले-सा
तीज-पर्व पर मज्जन मेला ॥ ५१ ॥

वृष्टिपात सहती दुख से है
कालमेघ तिमिरावृत आशा।
देखती चपल भी चपला है
भूप-वैश्य-तप देश निराशा ॥ ५२ ॥

चारु है शरद से अब चन्द्र
शुद्ध नीर नभ, मार्ग अपंक।
दूर है न पर भारतभू के
भाल से मलिन दस्युकलंक ॥ ५३ ॥

प्रात में प्रयत भक्त नहाते
रात में गगन-दीप जले हैं।
है उदास यह दीपकमाला
ध्वान्त-दस्यु जिससे न टले हैं॥ ५४॥

व्योम में उदित उज्ज्वल तारे
वारि में मुदित पंकज हास।
धर्म-लग्न परतन्त्र जनों का
क्यों लगे करते उपहास? ॥ ५५॥

ह्रस्व है दिवस का परिमाण
दीर्घ है तुहिनपात निशा में।
बाण सी शिशिर-सीकर-युक्त
है चली नियम वात दिशा में॥ ५६॥

शीत-शत्रु-भय से सविता भी
शीघ्र शीघ्र रथ हाँक रहा है।
भारतीय इस हीन दशा को
दूर से सत्य झाँक रहा है॥ ५७॥

छा रहा असुर सा कुहरा है
जन्तु भी विवश हैं जड़ता से।
लग्न हैं नृपति वैश्य तथापि
एकचित्त तप में दृढ़ता से॥ ५८॥

देह है अधिक दुर्बल तो भी
चित्त मे निमल भाव जगा है।
आत्मरूप अतिरोहित कोई
भासने हृदय मध्य लगा है॥ ५९॥

सिद्धि है न तप की अब दूर
हो चली विरत है ऋतु शीत।
द्वन्द्व दुःख सहते तप मे ही
वर्ष हैं निरस तीन अतीत॥ ६०॥

स्वप्न में भगवती जगदम्बा
दे चुकी सफल दर्शन भी है।
किन्तु दीन उन भक्तजनों के
चित्त में न परितोष अभी है॥ ६१॥

महामाया मूर्ति स्तुति निरत पुष्पाञ्जलि रचे
सुमेधा के शिष्य प्रथन तप मे जो निरत हैं।
निराहारी मौनव्रत नियमधारी मुदित वे
सदा भक्तिश्रद्धा पुलकित तनु ध्यानरत हैं॥ ६२॥

भ्रम-कुमति निराशा की जली मूर्ति होली
नर घर घर मे हैं खेलते रंग रोली।
असुर शिशिर का है हो चला त्रास अन्त
नृप घर जगती मे आ रहा है वसन्त॥ ६३॥

सप्तदश सर्ग

लग रहा यह आज निशान्त में
दिवस है सुखरूप सुहावना।
यह अचेतन भी किस हेतु से
अखिल विश्व सचेत सा है बना? ॥ १ ॥

अवनि-अम्बर-नीर-समीर में
किसलिए परिवर्तन आज है?
भर रहा यह कौन शनै शनै
जगत का मन नूतन साज है? ॥ २ ॥

पुलकिता यह अंकुर से लता
मुदित है किसके अनुराग से?
भर दिया क्षण में किसने अहो!
सुमन को शुचि गन्ध पराग से? ॥ ३ ॥

वर सुसज्जित हैं नव पत्र से
ललित हैं उनसे कलियां लसी।
भुवन में यह आज नई नई
अमित सी किसकी छवि है बसी? ॥ ४ ॥

कलित रम्य रसाल रसाल में
हरित पीत मनोहर बौर हैं।
स्वजन कौन इन्हें पहना रहा
वर बनाकर सुन्दर मौर है? ॥ ५ ॥

मधुकर-व्रज गुञ्जित माधवी
सुरभि भिन्न खिले करवीर हैं।
नवपलाश पवित्र पलाश भी
विनय में किसके अवि धीर हैं? ॥ ६ ॥

मुकुल-लोचन से किस रूप को
निरखते तरु मुग्ध मधूक हैं?
पिक पुकार रहे जिसको यहां
वह कहां उनका प्रिय मूक है? ॥ ७ ॥

सरस घूम मन प्रिय मञ्जरी
परभृता करती कल गान है।
रसिक सा इस पञ्चम राग का
विवर कौन रहा वरदान है? ॥ ८ ॥

रचित की किसने रचना नई
मधुरता किसकी मधु मास में ?
रम रही किसकी रमणीयता
कमल के मकरन्द सुवास में ? ॥ ६ ॥

निरत थे इस भाँति वसन्त के
जन हुए नृप वैश्य कुतूहली।
श्रुति-अगोचर एक अखण्ड सी
द्युति उसी क्षण गोचर हो चली ॥ १० ॥

हृदय तन्मय था जिस मूर्ति की
अचल भक्ति तथा अनुराग में।
अब वही अवलोकित हो चली
विमल मूर्ति जगत्-प्रतिभाग में ॥ ११ ॥

मिट गया तम पाप जले सभी
उस महातप के प्रतिभास से।
मिल गई तप को कृतकृत्यता
उस अलौकिक आत्म विकास से ॥ १२ ॥

भुवन भास चला क्षण मात्र में
उस अखण्ड महाद्युति-दीप से।
लख चले उसको निज नेत्र से
नृपति वैश्य नितान्त समीप से ॥ १३ ॥

यह सुभास्वर ज्योति अपार सी
जब नहीं दृग मध्य समा सकी ।
तब उसे रख मानस मध्य में
त्वरित ही उनकी पलकें ढँकीं ॥ १४ ॥

उस अनन्त विलक्षण शक्ति की
घटित देख छटा ऋतुराज में ।
सहज सात्विक भाव जगा स्वयं
विनत साधु तथा नरराज में ॥ १५ ॥

उस चर-स्थिर के अवलम्ब की
यह चली रसना बिरदावली ।
हृदय मुग्ध लगा कुछ गूँथने
सुमन से अपने कुसुमावली ॥ १६ ॥

सरस उज्ज्वल-भाव सुवासिनी
दुरित दुर्गति शोक-विनाशिनी ।
विषय मूर्च्छित-चित्त-विशोधिनी
शयित भारतशक्ति-विबोधिनी ॥ १७ ॥

अखिल मानव की सुखकारिणी
कठिन संसृति-चक्र निवारिणी ।
स्मृत हुई यह भूति विधायिनी
भगवती स्तुति मंगल दायिनी ॥ १८ ॥

ब्रह्मरूपे सदा एकरूप-स्थिते।
विश्वरूपे सदा भिन्नरूप-स्थिते।
हे निराकार-साकार-रूपस्थिते!
अम्बिके कालिके देवि! तुभ्यं नमः ॥ १९ ॥

प्राणियों में सदा प्राण रूप-स्थिते!
इन्द्रियों में सदा ज्ञान रूप-स्थिते!
शुद्ध संकल्प तू बुद्धि में बोध है
चित्त में चेतना देवि! तुभ्यं नमः ॥ २० ॥

भूमि में वायु में वारि में अग्नि में
तू रस-स्पर्श-शीतोष्णता-धर्म है।
व्योम में शब्द चन्द्रार्क में भासिता
मूर्ति में देवता देवि! तुभ्यं नमः ॥ २१ ॥

राष्ट्र में नीति निर्व्याजता धर्म में
न्याय में सत्यता विश्व में शान्ति है।
आर्य में शौच संतोष श्रद्धालुता
जाति में एकता देवि! तुभ्यं नमः ॥ २२ ॥

साधु में त्याग अस्वार्थ कर्मण्यता
आस्पृहा लोकसेवा अभोगैषणा।
गेह में तू सदा सुव्रता गेहिनी
नित्य यज्ञ क्रिया देवि! तुभ्यं नमः ॥ २३ ॥

शारदा बुद्धि तू विश्व निर्माण में
शम्भु निष्काम की ब्रह्मविद्या उमा।
विष्णु की हे रमा वीर की हे क्षमा।
स्नेह की मूर्ति माँ। देवि तुभ्यं नमः ॥ २४ ॥

विश्व की मोह निद्रा महाभ्रान्ति तू
योगमाया जग मोहिनी रात्रि है।
हेतु जागर्ति है तू जगत्सृष्टि में
दिव्यरूपे। महादेवि तुभ्यं नमः ॥ २५ ॥

खड्गिनी शूलिनी हे गदाधारिणी।
चापिनी चक्रिणी कैटभ द्वेषिणी।
माहिषी मूलिनी। कालिके चण्डिके!
घोररूपे महाशक्ति। तुभ्यं नमः ॥ २६ ॥

चारु दिव्याम्बरा कान्ति विभ्राजिता
गौरवर्णा महारत्न से भूषिता।
मन्दमन्दस्मिता चन्द्रभासोज्ज्वला
सौम्यरूपे महागौरि। तुभ्यं नमः ॥ २७ ॥

रक्तबीजादि की भञ्जिनी शूल से
चण्ड मुण्डादि की खण्डिनी खड्ग से।
घोर शुम्भादि की घातिनी सिंह से
दैत्यविध्वंसिनी शक्ति। तुभ्यं नमः ॥ २८ ॥

हे गजासीन ऐन्द्री महारंजिणी !
शूलहस्ता भवानी वृषारोहिणी !
हंस-यान स्थिते ! हे विमानस्थिते !
देव भू रक्षणी शक्ति ! तुभ्य नम ॥ २९ ॥

नित्य आनन्द थी तू रचाती जहां
तू बचाती जिसे थी सदा घात से ।
दूर होते जहा अन्य के दु ख भी
क्यों वहीं दु ख की आज सीमा नहीं ? ॥ ३० ॥

तृप्त होता जहा विश्व था यज्ञ से
वास होता सदा स्वर्ग का था जहा ।
क्यों उसी भूमि मे भारतीया प्रजा
सो रही आज सर्वस्व है खो चुकी ? ॥ ३१ ॥

पूजते माँ ! तुझे भक्ति विश्वास से
आज भी तो यहां आर्य सद्वंश है ।
क्या कभी देखती है दयादृष्टि से
जो मचाये यहाँ दैत्य विध्वंस है ॥ ३२ ॥

सिंह से भी कभी जो नहीं भीत थे
हो रहा बंदरों से उन्हें त्रास है ।
भूसुरों के सुरों के जहा गेह थे
शूकरों का खरों का यहा वास है ॥ ३३ ॥

धेनु के भाग को खा रही है खरी
काक हैं ले रहे हंस के अंश को।
था द्विजोद्यान जो चारु फूला फला
क्यों वहीं वृक्ष हैं सूखते जा रहे? ॥ ३४ ॥

देवभाषा जहा देशभाषा रही
क्यों यहीं आज है छारही राक्षसी?
क्यों यहा आसुरी नीति का राज्य है
सभ्यता सीखने देव आते जहा? ॥ ३५ ॥

रत्नगर्भा मही अन्नपूर्णा जहा
क्यों धनी भूख से मग्न हैं नग्न हैं?
हाथ क्यों धो रहा कर्म से धर्म से
मोह में सो रहा शोक में मग्न है? ॥ ३६ ॥

हो चुकी आज कैसे महा भूल है?
क्यों लुटी देश की आर्य-भू संपदा?
क्या हमारे असत्कर्म का दोष है
या यही देश के भाग्य में था बदा? ॥ ३७ ॥

जो हुआ सो हुआ जो गया सो गया
आज भी तो कृपा का सहारा मिले।
राष्ट्र के भाल से दूर हो कालिमा
बन्धु को बन्धुओं का सहारा मिले ॥ ३८ ॥

बाहु की शक्ति का बुद्धि की शक्ति का
एकताशक्ति का तो हुआ ह्रास है।
शून्यता दीनता है निराशा भरी
देवि। तेरा रहा एक विश्वास है॥ ३६॥

काम से क्रोध से लोभ अज्ञान से
द्वेष-ईर्ष्या मद भ्रान्ति मात्सर्य से।
दु:ख दारिद्र बाधा-जरा मृत्यु से
बद्ध भी हैं कहां मुक्ति सम्भावना ?॥ ४०॥

चित्त चिन्ता महासर्पिणी ने डसा
बुद्धि दुर्वासना मोह से नष्ट है।
काय भी म्लान है व्याधियों से घिरा
शत्रुओं से हुआ देश विध्वस्त है॥ ४१॥

लुप्त विज्ञान है वीरता सुप्त है
कान मे तेल डाले हुए देश है।
मौन है जीभ आंखें हुई मंद हैं
मार्ग कोई नहीं द्वार भी बंद है॥ ४२॥

शक्ति से हीन दुर्भाग्य से दीन हूं
ग्लानि से खिन्न हूं त्यक्त हूं भाग्य से।
दग्ध हूं घोर संसार-दावाग्नि से
देवि! तू दु:ख मे एक आलम्ब है॥ ४३॥

हो रहा दानवों का दुराचार है
आ रहा पाप का दु ख का भार है।
माँ! करो विश्वकल्याण की कामना
दो हमें वीरता त्याग की भावना ॥ ४४ ॥

हे जगद्वन्दिते! देश से प्राण दे
आततायी खलों से हमें त्राण दे।
भारतीयत्व का देश को भान हो
पूर्वजों के गुणों का हमें ध्यान हो ॥ ४५ ॥

फू क दो शंख माँ! भ्रान्तियाँ दूर हों
नूतनोत्थान की दु दुभी दो बजा।
शक्ति के गीत गा दो जगा दो हमें
भिन्नता को भगा दो हरो आपदा ॥ ४६ ॥

राष्ट्र की नित्य ऊँची पताका रहे
वायु भी शुद्ध मत्कारकारी बहे।
भारतोत्थान में शान्ति स्वाराज्य हो
आर्यभू में सदा राम का राज्य हो ॥ ४७ ॥

निरत होकर भी इसभाँति से
भगवती-महिमा-स्तुति-गान में।
निज समग्र मनोगत भाव के
पर नहीं पहुचे अवसान में ॥ ४८ ॥

मति विभोर हुई अनुराग से
भर गये दृग मौन हुई गिरा।
कमल में अलि सा स्तुतिभाव भी
रह गया उनके मन में घिरा ॥ ४६ ॥

कुछ विवक्षित जो अवशेष था
कह सकी रसना उसको नहीं।
रुँध गया गल गद्गद वाष्प से
ढँक गई स्मृति दीपक सी कहीं ॥ ५० ॥

खुल गये युग लोचन खेद से
त्वरित दृष्टि धरा पर ज्यों पड़ी।
मुदितमूर्ति वही जगदम्बिका
प्रकटरूप समक्ष रही खड़ी ॥ ५१ ॥

यह जगज्जननी कहने लगी
सुरथ ! आज मुझे अति हर्ष है।
परम धन्य हुआ तुझ भूप से
जगत में यह भारतवर्ष है ॥ ५२ ॥

दुखित हो दुख से निज देश के
यह महीपति केवल धन्य है।
सतत हो हित में रत अन्य के
नर नहीं उसके सम अन्य है ॥ ५३ ॥

"त्वरित जागृत भारतशक्ति हो"
यदि महातप का यह लक्ष्य है।
"हत पराजित हों रिपु देश के"
यदि यही इसका उपलक्ष्य है ॥ ५४ ॥

यह दिया तुमको वरदान भी
निकट निखिल शत्रुविनाश है।
सफलता न कहीं अब दूर है
विजय भारत के अति पास है ॥ ५५ ॥

यह अकिंचन साधु समाधि भी
भवनबन्धन से अब मुक्त है।
यह अलिप्त सदा इस विश्व में
सफलजीवन शाश्वत मुक्त है ॥ ५६ ॥

नृपति के यति के पथ भिन्न है
चरम लक्ष्य तथापि समान है।
अखिल कर्मविसर्जन मात्र से
कुछ न हो सकता शिव-भान है ॥ ५७ ॥

उचित कर्म सभी करते हुए
यदि नहीं उसमें अभिमान है।
वह सुकर्म बिना फलकाम के
न करता कुछ बन्धन-दान है ॥ ५८ ॥

कथित है यतिधर्मविधान में
यदि कहीं पथ कर्म निवृत्ति का ।
वह निषेधक है यति के लिए
घृणित केवल लोलुप-वृत्ति का ॥ ५९ ॥

यति अकिंचन साधु विरक्त का
जगत का हित साधन कर्म है।
तन तथा मन हो पर के लिए
अति सुखद यही श्रुति मर्म है ॥ ६० ॥

परहितव्रत-दीक्षित साधु का
भुवन में कुछ कार्य विशाल है।
वह सदा पथदर्शक दीप सा
विचरता सुख से सब काल है ॥ ६१ ॥

जन सभी उसके प्रिय बन्धु हैं
गृह सभी उसके निज गेह हैं।
असुख है उसको पर आपदा
सुखद केवल है पर सम्पदा ॥ ६२ ।

अहित में हित में सम भावना
मन सदा करुणा रस में सना।
परम है उनकी शुभ कामना
पुरुष है वह सन्त महामना ॥ ६३ ॥

जगत का करता उपकार है
सरुज का हरता रुज भार है।
उस तपोधन को पर अन्न के
ग्रहण का रहता अधिकार है ॥ ६४ ॥

उदर हेतु लिए यदि वेष है
जटिल मुण्डित लुञ्चितकेश है।
उचित कर्म जिसे भ्रमजाल है
यति नहीं वह धूर्त बिडाल है ॥ ६५ ॥

इसलिए तुम वैश्य ! बनो व्रती
पर अमत्य न केवल वेष का।
प्रिय करो विचरो इस विश्व में
सुहृद होकर देश-नरेश का ॥ ६६ ॥

अब तुझे न कभी भ्रम मोह हो
मरण का भय भी मन में न हो।
रहित होकर हर्ष-विषाद से
परम मुक्ति इसी भव में लहो ॥ ६७ ॥

सुलभ मुक्ति नहीं सुत वित्त से
विपुल धान्य तथा बहु भृत्य से।
न मिलती वह केवल याग से
पठन से न वितर्क विवाद से ॥ ६८ ॥

विलग है मग से न निवृत्ति के
पृथक है पथ से न प्रवृत्ति के।
न मिली वह योग दिशा में
निहित है फल के यह त्याग में ॥ ६९ ॥

हे भारतेश! जन के सुख हेतु आप
हों नित्य प्रजा परिपालन में प्रवृत्त।
है एक मात्र हित केवल मुक्तिमार्ग
[illegible] नृपति का निज धर्म वृत्त ॥ ७० ॥

है एक मुक्तिपथ यद्यपि ज्ञानयोग
है मुक्ति का अपर भी पथ कर्मयोग।
दो भिन्न भिन्न पथ साधन हैं अवश्य
है त्याग का विहित किन्तु सदा रहस्य ॥ ७१ ॥

सन्योग-भाव परमेश्वर की कृपा से
हो लग्न जो निभृत शान्ति या प्रसुप्त।
है त्याग का न उसके श्रुति में विधान
है त्याज्य किन्तु इतर मन से [illegible] ॥ ७२ ॥

है विश्व में न रहता कुछ बन्ध-हेतु
है एक मात्र ममता चिर-बन्ध-हेतु।
त्यागो न विश्व [illegible] तजो ममत्व
संन्यास का हृदय में सुन लो रहस्य ॥ ७३ ॥

विद्या-तपोनिरत सतत धर्मयोगी
नीतिप्रयोगरत भूविजयी अभोगी।
आदर्श हों नृपति आप परार्थकारी
दुर्दान्त-दस्यु-दल-भारतभार-हारी ॥ ७४ ॥

होंगे पराजित सभी रिपु धर्मघाती
लो, एक और वरदान तुम्हें सुनाती।
सावर्णि नाम मनु अष्टम आप होंगे
हो सूर्य का तनय जन्म यहां लहेंगे ॥ ७५ ॥

कोलाध्वंसी असुरदल को तू हनेगा अशंक
धोयेगा तू धनुष बल से जन्मभू का कलंक।
होगा तेरे विमल यश से राष्ट्रशक्ति-प्रबोध
आर्यों के भी हृदयतल में भारतीयत्व बोध ॥ ७६ ॥

सुरथ भक्त समाधि विरक्त को
खचित देकर के वर ईश्वरी।
अथ उसी धरणीमय मूर्ति में
वह अन्तर्हित हुई परमेश्वरी ॥ ७७ ॥

अनल गल चुके हैं मोह के मेघ काले
अभय दश दिशाएँ सान्त्वना पा रही हैं।
त्रिभुवनजननी के धाम की दिव्य शोभा
प्रमुदित जनता भी देखने आ रही है ॥ ७८ ॥

अष्टादश सर्ग

सुरथ भूप को देवी से वरदान मिला है
अमर-भूमि भारत को निर्भयदान मिला है।
भव्य साधु को उचित कृत्य का ज्ञान मिला है
विश्ववन्द्य मेधा मुनि को समान मिला है ॥ १ ॥

कोलाविध्वंसी खल दस्यु पराजित होंगे
जाने को अविलम्ब यहा से बाधित होंगे।
दण्डनीति बल से उनका निष्कासन होगा
आर्यभूमि पर नहीं अन्य का शासन होगा ॥ २ ॥

महाज्योति भवशक्ति भुवन की हेतु भवानी
प्रकट हुई है स्वयं तपोवन में वरदानी।
दिव्य नदी के निकट जहा आश्रम पावन है
मंगलमय वह मूर्ति यहा देती दर्शन है ॥ ३ ॥

यही जनश्रुति गाँव गाँव में नगर नगर में
श्रुतिगोचर सर्वत्र हो रही थी घर घर में।
सर्वविदित हो चली बात यह बात बात में
अति चंचल चपला की जैसे चमक रात में ॥ ४ ॥

कौशल [illegible] पसारा [illegible] गय मद्र धाम में
नाना [illegible] उन्माद [illegible] अग अग में।
[illegible] अम्बर है चल धारने [illegible]
नरजीवन को सुफल करने से अमर बनाने ॥ ५ ॥

दिवस धन्य है आज परम पावन है वेला
अति विशाल मुनिनाथ, भरा सुन्दर है मेला।
यज्ञभूमि के निकट सभामण्डप है भारी
हैं अवस्थित आसीन जहाँ आकर नर नारी ॥ ६ ॥

भारतभू सम्राट् सुरा भी विद्यमान है
दीख रहा वह दिव्यरूप दिनकर-समान है।
ज्ञान तेज है झलक रहा उनके आनन से
वीर केसरी आज निकल आया कानन से ॥ ७ ॥

सभाभूमि का भरा हुआ कोना कोना है
देशभाग्य का आज यहीं निर्णय होना है।
ऊँचे आसन से बोले मुनिवर सुबोधा
सुरसमाज में चतुर वेदनिधि जैसे वेधा ॥ ८ ॥

अवलोकन कर शांत भाव से चतुर दृष्टि से
सिंचित सा कर सरस सुधामय स्नेह वृष्टि से।
संबोधित कर आर्यवृन्द को लगे सुनाने
भारत की चिरसुप्त शक्ति को लगे जगाने ॥ ९ ॥

अखिलविश्व वंदित भारतभू के विद्वानों।
विदित विश्वविजयी क्षत्रियकुल की सन्तानों।
अमित अन्न-जननी अवनी के कुशल किसानों।
सुनो देश के दानवीर धार्मिक धनवानों। ॥ १० ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र जितने अन्त्यज हैं
एक जाति सब कश्यपादि ऋषि के वंशज हैं।
सारा भारतवर्ष हमारा भवन सहज है
एकरूप से मिली सभी में इसकी रज है ॥ ११ ॥

चिरपवित्र यह देश हमारा दिव्य अंश है
आदि-काल से बसा यहां पर आर्यवंश है।
महाबली रणकुशल जहां क्षत्रिय मनुवंशी
क्यों अनार्य हैं बसे यहां कोलाग्निवंशी? ॥ १२ ॥

रुद्ध हुआ यह सिंहदुर्ग क्योंकर शृगाल से?
खेल रहे हैं क्योंकर मूषक कृष्ण व्याल से?
वीर सिंह हैं क्यों शंकित पिंगल बिडाल से?
हार रहे क्यों हंस मानसर की कुचाल से? ॥ १३ ॥

भूल रहे क्यों पूर्णशक्ति को भ्रान्तिजाल से
क्यों अपमानित आप हो रहे गेहपाल-से।
अथवा लेकर दासभाव का अंक भाल से
ग्रस्त हुए हो कठिन दुःख दुर्भाग्य गाल से? ॥ १४ ॥

नहीं! नहीं!! हम आज हुए जो दीन रंक हैं
कारण इसका इसी देश के नरकलंक हैं।
जो अन्यायी असुर वर्ग का साथ गहे हैं
छल कुचक्र करने में रिपु का हाथ गहे हैं ॥ १५ ॥

घृणित कहीं से घुसे यहाँ जो तस्करदल हैं
इनका तो बल इन्द्रजाल है केवल छल है।
हैं षड्चक्र वे किन्तु आप से नहीं प्रबल हैं
भारत की हम चार भुजाएँ सदा सबल हैं ॥ १६ ॥

राष्ट्र यही प्रत्यक्ष विष्णु तो भरतखण्ड है
चार वर्ण जिसके मुख भुज उरु चरणदण्ड हैं।
बली अनादि अजेय एक अविकल अखण्ड है
अति उन्नत जिसका किरीट यह मेरुदण्ड है ॥ १७ ॥

जहाँ सुरथ सा राष्ट्रपाल सब का हितकर है
मिला जिसे निज तप से जगदम्बा का वर है।
जहाँ सनातन धर्म आर्यकुल अजर अमर है
नहीं अन्य का यहाँ हमें किंचित् भी डर है ॥ १८ ॥

उठो नींद से, जागृत होकर शक्ति सँभालो
देवभूमि से दनुजवृन्द को दूर निकालो।
साहस बल से शत्रुसंघ का हृदय हिला दो
सिंहनाद कर एक बात उनसे बतला दो
'है पवित्र यह देश महान्, यहा नहीं है पापस्थान,॥ १९ ॥

सेतुबन्ध से सह्य मलय से अचल विन्ध्य से
स्थान पञ्चनद अमरसिन्धु से सप्तसिन्धु से।
पूर्व सिन्धु से अपर सिन्धु तक तुहिनाचल से
ब्रह्मपुत्र नद शोण तथा सागर के तल से
है जिसका विस्तार महान्, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २० ॥

सिन्धुदेश-गान्धार-महाथल-कुरुजाङ्गल में
अर्बुद गुर्जर महाराष्ट्र केरल-उत्कल में।
अवध अवन्ती मगध-बङ्ग में कामरूप में
शूरसेन भरकच्छ आदि में स्तूप यूप में
जहा पठित है वेद पुरान, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २१ ॥

सूर्य-चन्द्र की कश्यप की गौतम अगस्त्य की
अत्रि अंगिरा भृगु वसिष्ठ गोभिल पुलस्त्य की।
भरद्वाज जमदग्नि वत्स कर्दम भार्गव की
गर्ग पराशर कौशिक कात्यायन गालव की
है बसती जिसमें सन्तान, यहा नहीं है पापस्थान ॥ २२ ॥

च[illegible] [illegible] नरहरि, [illegible]
चित्रकूट [illegible] [illegible] नागीश्वर।
[illegible] मथुरा काशी [illegible] [illegible]
ह[illegible] [illegible] पुरी नैमिष [illegible] पावन
श्रुति [illegible] जहाँ महान, वहाँ नहीं है पापस्थान ॥ २३ ॥

दि[illegible] विजयिनी भरतादि की जय पताका
[illegible] शासन जिसमें श्रीमान्धाता का।
[illegible] नाभाग सगर पृथु धरणीपति का
सुयश कलित है जहाँ नाभि इक्ष्वाकु नृपति का
जहाँ मनुस्मृति वर्णविधान, वहाँ नहीं है पापस्थान ॥ २४ ॥

अब जग रहा न विष्णु रमा का सत्य उमा का
जगत्पिता शिव जगदम्बा का शक्ति उमा का।
दिव्य [illegible] लेख प्रतियुग अवतार जहाँ है
सहता होता असुर पाप का भार जहाँ है
जहाँ सुरत्व का है सम्मान, वहाँ नहीं है पापस्थान ॥ २५ ॥

जहाँ यज्ञ है सत्य शील है शम संयम है
जहाँ [illegible] धर्म करना उत्तम है।
अति शुचि अन्न पान भक्षण है गोरक्षण है
जहाँ सतीत्व एकपतित्व कुललक्षण है
है मन राग लोभ [illegible], वहाँ नहीं है पापस्थान ॥ २६ ॥

जहां हमारे आर्य पूर्वजों की कृतियां हैं
नियमार उनके अतीत की भी स्मृतियां हैं।
सत्य सनातन जहां एक ऐसी संस्कृति है
आती जिसम किसी काल मे नहीं विकृति है
है यह सफल पुण्य उद्यान, यहां नहीं है पापस्थान ॥ २७ ॥
अक्षय धनभंडार रत्न का कोष जहां है
आत्मभाग्य पर यथालाभ संतोष जहां है।
अन्यायी के अशुभ कृत्य पर रोष जहां है
स्वाभिमान से जयभारत का घोष जहां है
करते सुर जिसका गुणगान, यहां नहीं है पापस्थान ॥ २८ ॥

इसी समय उन दुष्ट दानवों से कहला दो
सिंहनाद कर सत्य बात उनसे बतला दो।
छल बल से तुम अन्य देश म क्यों धँसते हो ?
अन्यदेश के भूमिभाग को क्यों ग्रसते हो ? ॥ २९ ॥
किंतु शत्रु से हम जितना भयभीत हुए हैं
वे सनार हमसे उतना विपरीत हुए हैं।
दस्युवंश से सन्धि मेल की बात चलाना
है निष्फल सा बधिर वृन्द को गीत सुनाना ॥ ३० ॥
अब उनको कुछ भी कहना सुनना समझाना
होगा जैसे अन्धनयन को दीप दिखाना।
नीतिकार कहते हैं खल को नीति बताना
तप्त तेल म है सहसा जलबिन्दु गिराना ॥ ३१ ॥

अत प्रथम अपने को ही हम सबल बनाएँ
सर्वशक्ति से एक शक्ति की ज्योति जगायें।
नहीं स्नान करने को ही यह योग मिला है
राष्ट्रशक्ति दर्शन का स्वर्ण सुयोग मिला है ॥ ३२ ॥

इसी पर्व में भ्रान्ति दासता को धो डालो
आत्मवर्ग विद्वेष कलह सन्देह मिटा लो।
यही नीति सदेश सर्वसंमति से मानो
शत्रुसंघ से त्वरित यज्ञ समर का ठानो ॥ ३३ ॥

अरे बहुत सो चुके नहीं था जितना सोना
सब कुछ है खो चुके सदा था जितना खोना।
बहुत अधिक रो चुके अहिंसा अब रोना
है केवल अवशिष्ट एक समर का होना ॥ ३४ ॥

मन्त्र तन्त्र के नहीं समय है अब साधन का
अन्य यज्ञ के नहीं समय है आराधन का।
नहीं उचित अब अन्य देव का पुरश्चरण है
आदिशक्ति करवाल कालिका एक शरण है ॥ ३५ ॥

खड्गरूपिणी शक्ति यही भीषण काली है
यह चण्डी प्रत्यक्ष शत्रु खाने वाली है।
कालजीभ सी चण्ड मुण्ड को चाट चुकी है
कई बार कितने असुरों को काट चुकी है ॥ ३६ ॥

धर्मयुद्ध मे आज परस्परभेद हटा कर
वढें आप सब साथ हाथ मे खड्ग उठाकर।
चलें धीर जन उचित वीरकर्तव्य निभाने
असुरवृन्द से मातृभूमि को मुक्त कराने ॥ ३७ ॥

रिपुकुल से यदि अब अपमान नहीं सहना है
यदि सुख से आगे सब को जीवित रहना है।
यदि बन्दी भारत का है उद्धार कराना
दुखसागर से राष्ट्रपोत को पार कराना ॥ ३८ ॥

यदि है निज कुलधर्म वेद गोवश बचाना
पूर्वजनों की मा बहनों की लाज बचाना।
अजगर के मुख से भावी सतान बचाना
तो अवश्य है एक उचित रणयज्ञ रचाना ॥ ३९ ॥

शूद्र वैश्य अन्त्यज चाहे द्विज हो श्रुतिपाठी
गहे गर्व से गठित गॅठीली कर में लाठी।
यह यमास्त्र है धर्मराज का कठिन दण्ड है
यहा सुलभ सर्वत्र सदा यह वंशखण्ड है ॥ ४० ॥

यही यष्टि है युद्धभूमि मे वीरसगिनी
लपक लिपट रिपु को डसती जैसे भुजंगिनी।
अति गर्वित दुष्टों की है यह गर्वगंजिनी
सीस भुजा कटि दन्त भंजिनी रक्तरंजिनी ॥ ४१ ॥

कभी पुरन्दर है अरि के उर मध्य समाती
चूर चूर कर देती है पत्थर सी छाती।
अति कठोर भी कभी शत्रु का हाड चबाती
तो भी वह भूखी चण्डी सी नहीं अघाती ॥ ४२ ॥

करो समर-सम्भार हाथ में खड्ग ले लो
अरिमण्डल के साथ युद्ध न रुककर खेलो।
अब है इस गुत्थी को खड्ग से सुलझाना
नहीं उचित है हमें मौन होकर पछताना ॥ ४३ ॥

जन्मभूमि हो शुद्ध शान्त फिर जपना माला
आज उचित है यहां हाथ में लेना भाला।
प्रलयंकर यह कुपित रुद्र का घोर शूल है
सुरजीवन का परममुक्ति का यही मूल है ॥ ४४ ॥

इसी शूल को वीरभद्र ने कर में धारा
पकड़ खींच शिव के वैरी का शीस उतारा।
नहीं ठहरते दुष्ट कभी इसके झोंकों से
लिखे गये इतिहास कई इसके नोकों से ॥ ४५ ॥

इसी शूल से चण्डी ने महिषासुर मारा
खल निशुम्भ को सदल शुम्भ को था संहारा।
देवशक्ति ने असुरशक्ति को जहां पछाड़ा
हुआ सुरासुर समर का इससे निपटारा ॥ ४६ ॥

अभी और है एक अमर इतिहास दिखाना
भावी संतति को भी है यह मार्ग दिखाना।
धनुष-बाण का भेद बताना लक्ष्य सिखाना
बिना धनुष है व्यर्थ प्रबल रिपु को धमकाना ॥ ४७ ॥

क्षमा अहिंसा आदि शस्त्र हो चुके पुराने
इनसे कब हैं दस्यु दानवों ने भय माने ?
अस्तु, असंगत बात नहीं इसको रहने दो
धनुष बाण की बात अभी मुझको कहने दो ॥ ४८ ॥

यही धनुष है राम वीर का बलशाली का
यही प्रमुख है अस्त्र विष्णु का वनमाली का।
जब जब देवभूमि पर दानवदल था आया
इसी धनुष से मार सुरों ने उन्हें भगाया ॥ ४९ ॥

हुआ घोर अन्याय महा जब जालंधर का
बहुत समय तक युद्ध चला उससे शंकर का।
लेकर धनुष पिनाक शंभु ने जब ललकारा
किया क्षणों में क्षार उसे भूलोक उतारा ॥ ५० ॥

वेदों में इतिहास लिखा है उस संगर का
देवराज के साथ हुआ जो वृत्रासुर का।
होती है बाणलक्ष्य घनों में जिसकी रेखा
इसी धनुष से वृत्रनाश देवों ने देखा ॥ ५१ ॥

यही पाठ है अभी देश को यहा पढ़ाना
देश धर्म के लिए उचित है चाप चढ़ाना।
स्वतन्त्रता की इस पर ही आधार शिला है
भीत विश्व को सदा इसी से त्राण मिला है ॥ ५२ ॥

यही शक्ति है यही प्रथम मानव का बल है
यही दुःख-दारिद्र दासता का अर्गल है।
क्रुद्ध काल की भ्रूकुटि कुटिल यह धनुसायक है
चिह्न यही क्षत्रियवंश का परिचायक है ॥ ५३ ॥

पर शस्त्रों की शक्ति संगठन में बसती है
विघटित दल की शक्ति भिन्नता से नशती है।
देवशक्ति का व्यापक भी बल तब मिलता है
जब समाज या राष्ट्र एक होकर मिलता है ॥ ५४ ॥

मानो शुभ आदेश सुरथ नृप का नेता का
आर्यदेश के रत्न असुरदल के जेता का।
यदि रण का प्रस्ताव आप सब को सम्मत हो
'जय भारत' के साथ सभास्थल मे स्वीकृत हो ॥ ५५ ॥

करो संगठन का प्रण किन्तु नहीं बातों से
शस्त्रसाध्य क्या विजय सुलभ होगी छावों से ?
जगें युवक रणधीर शत्रुदल को ललकारें
सज्जित हों धनु तीर चपल चमकें तलवारें ॥ ५६ ॥

भीतिनिवारण जयकारण अरिवृन्दविदारण
बलसंचारण निस्तारण उद्धारण मारण
यदि रण रिपु के उत्सारण पर्यन्त न होगा
तब तक इस अपमान दुःख का अन्त न होगा ॥ ५७ ॥

प्रस्तुत को एक स्वर से सुनकर अनुमोदित
जनसमाज की सुप्त शक्ति को कर उद्बोधित।
वारिद रव सी विरत हुई गुरुवर की वाणी
जाग उठा रस रौद्र सिंह जैसे अभिमानी ॥ ५८ ॥

गत शासन के दोषों का कर अनुसन्धान
उसी सभा में बना एक शुभ राज्य विधान।
योग्य मन्त्रिमण्डल का कर अभिनव निर्माण
किया भूप ने पुनः शत्रुदल पर अभियान ॥ ५९ ॥

किसको क्या करना है यह सब को समझाकर
गुप्त तथा प्रत्यक्ष युद्ध की रीति बताकर।
सभा विसर्जित हुई घोषणा कर समर की
हुई शक्ति विख्यात सत्य देवी के वर की ॥ ६० ॥

यज्ञान्त में भगवती जगदम्बिका की
है भासमान अति अद्भुत आननश्री।
दुर्दान्त दुष्ट बलगर्वित दानवों की
है चाहती त्वरित भारत से इतिश्री ॥ ६१ ॥

एकोनविंश सर्ग

कुलपति का सन्देश देश के मन को भाया
घृत जैसे प्रज्वलित यज्ञपावक ने पाया ।
लेकर स्वसन्देश वहाँ से धीर सयाने
श्रमदीप से चले तिमिर में राह दिखाने ॥ १ ॥

मुनिकुलसंकुल शैल तपोवन तीर्थ घाट में
जनसमूह संकुल पुर पत्तन हाट बाट में ।
गूँज गया सन्देश देश के शान्त गगन में
जाग चली उत्साहशक्ति सहसा जन जन में ॥ २ ॥

जनता के भ्रमजाल मोह अब टूट चुके हैं
देख लिया है उन्हें उन्हें जो लूट चुके हैं ।
सावधान है राष्ट्र आज शंकर सा भोला
ज्वालामुखी समान नेत्र है चिर से खोला ॥ ३ ॥

सुमति आज है बसी सभी के अन्तस्तल में
संघशक्ति है जाग उठी मण्डल मण्डल मे ।
आर्यभूमि है बनी प्रबलदुर्गा स्थल जल मे
व्यक्त हो रही त्रिविध शक्ति भारतभूतल में ॥ ४ ॥

सुगम हो गया मार्ग कण्टकों से दुस्तर है
गलित हो गया विघ्न तथा बाधा का डर है।
आया जिसदिन यहा अटल विश्वास परस्पर
सबल हो गया आर्यराष्ट्र निज बल पर निर्भर ॥ ५ ॥

जिस दिन भारतवर्ष देश ने तजी उदासी
जिस दिन मिलकर एक हुए सब भारतवासी।
जिस दिन चण्डी हुई शत्रुशोणित की प्यासी
अट्टनाद कर उठी प्रलय की घोर घटा सी ॥ ६ ॥

जिस दिन गूंजी वीरगर्जनगुम्फित गुरुवाणी
जिस दिन कोपी करों करों मे क्रूर कृपाणी ।
जिस दिन फडकी युवक युवक की भुजा प्रचण्डा
बालक भी उठ चले हाथ मे लेकर दंडा ॥ ७ ॥

जिस दिन उठे असंख्य कृषक भारतजयकारी
परशुराम से चले परशु लेकर भयकारी ।
उस दिन होकर चकित विश्व ने है यह जाना
'आर्यदेश है अभय आर्यशोणित से साना" ॥ ८ ॥

चढे गजों पर गदी रथों पर बाणनिषंगी
जिस दिन घोड़े साज चले क्षत्रिय रणरंगी।
कोप कोप से निकल पड़ी जब कालभुजंगी
उस दिन काँपे दस्यु देख भारतरणभंगी ॥ ६ ॥

एक एक जन देशनिवासी, ले चला मुदित है रणदीक्षा
बाल भी समर में उतरी है, ले रहा कठिन वीरपरीक्षा।
किन्तु आज इस भारत ने है, वीरधर्म अपना पहिचाना
भव्य भाल पर से जननी के आज है मलिन दाग मिटाना ॥ १० ॥

देश लग्न है आज पाप अपना धोने में
नहीं छिपा है वीर कहीं कोई कोने में।
देह मोह तज अमर चले संगर करने को
सम्मुख रण में शत्रुभार हरने तरने को ॥ ११ ॥

दुर्ग दुर्ग पर अभय चढ़े विजयी रणबंके
व्योम बधिर हो गया बजे ज्यों ही रणडंके।
धँसा धूल में भानु डगमग भूतल डोला
भारत की जब कुपित चण्डिका ने मुँह खोला ॥ १२ ॥

गाज चले घन-तुल्य नगाड़े, बजे शंख रणघंट जुझारे
नाच उठी भारतरणचण्डी कुन्त केश मुख-खड्ग उघाड़े।
कुटिल चाप वक्रित नयनों से उगल चली बाणों की ज्वाला
लपक लपक कर असि जीभों से चाट चली रिपुशोणित-हाला ॥ १३ ॥

उछल उछल उद्भट रणचण्डी लगी मृत्यु का नाच दिखाने
काट काट कर करवालों से शत्रुकण्ठ वह लगी गिराने।
दौड दौड मोटे दंडों से ठोंक ठोंक रिपु लगी ठेठाने
हुल हुल हठ से वैरी को कहीं शूल से लगी उठाने ॥ १४ ॥

चूर चूर कर घोर गदा से कहीं धूल मे लगी मिलाने
फाड फाड करके फरसों से कहीं भूमि पर लगी सुलाने।
कहीं हाथ से लगी हटाने कहीं गर्त मे लगी दबाने
महामत्त उद्धत रणचण्डी लगी दस्युसंहार मचाने ॥ १५ ॥

भगे भूत कोलानिध्वंसी चले त्याग उनको अब संगी
भाग चली उनकी सेना भी जैसे केहरि भीत कुरंगी।
आत्मपक्ष से विमुख कुसंगी रहे बने जो रिपु के अंगी
छिपे कहीं जाकर खोहों मे वे जैसे परहीन विहंगी ॥ १६ ॥

छूटे महारिपु दुष्ट हठीले कांपे कई पडे कुछ पीले
सूखे ओठ नयन से गीले गये कई बन्धन से कीले।
महिष तुल्य कितने मतवाले रहे मौन अवनी पर डाले
हाथ जोड कितने छलघाती रहे शीश से सीस निकाले ॥ १७ ॥

दूर चले रण से मुख मोडे पडे कई पीठों पर कोडे
जहा बने थे मग के रोडे आज उसी भारत को छोडे।
भूल गया सब लूट मचाना गाव नगर मे आग लगाना
किन्तु नहीं उनको भूलेगा तीव्र मार बेंतों की खाना ॥ १८ ॥

कामधेनु भारतभू का जो रक्त पी रहे थे चीते से
आज उसी की गली गली मे भटक चले भूखे कुत्ते से ।
अन्य देश के जो निभवों पर कभी लगा बैठे थे ताले
आज किंतु मुख दीख रहे हैं कान्तिहीन कज्जल से काले ॥ १९ ॥

निष्कलंक उज्ज्वल पहले सा भाल देख माता का
राजभवन पर फिर लहराई रामराज्य की अमर पताका ।
कुटिल कुचक्रों के पुतले थे पूर्वसचिव जो अत्याचारी
क्षमानाथ के वे चरणों में क्षमा हेतु बन रहे भिखारी ॥ २० ॥

किन्तु अनल को जो दलते हैं कूट कपट से जो छलते हैं
अन्य-परिश्रम के फल को भी जो खाकर मोटे पलते हैं।
जो स्वधर्मपथ से टलते हैं आर्य-धर्म पर जो जलते हैं
क्यों न गलें वे निज पापों से पापमार्ग पर जो चलते हैं ? ॥ २१ ॥

जहां कहीं दानव करते हों मार्गरोध शुभ-कार्य निरोध
आर्यनीति कहती उनका हो शीघ्र दण्डवल से प्रतिरोध ।
मानव जो दानव बन जाते अन्य देश पर हैं छा जाते
आर्यदेश उनका वैरी है जो हिंसावल पर हों माते ॥ २२ ॥

कोई भारत में अनार्य धुन हैं जो भी घुसे घात से
आर्यों ने उनको सदा हन दिया है शस्त्रसंघात से ।
आर्य जो घर अन्य के पर यहीं स्वामी बने हों अड़े
ऐसों को रिपुहाड वे हँस रहे सूखे यहीं हैं गड़े ॥ २३ ॥

विंशतितम सर्ग

बीती मोहनिशा गया तम हुआ सर्वत्र आलोक है
कैसा आज नया प्रभात शुभ है आया कहीं दूर से।
प्राची में निकला प्रसन्न सविता नेता महीपाल भी
भू का भव्य ललाट उल्लसित है सौभाग्य सिंदूर से ॥ १ ॥

दोनों अस्त रहे समान फिर से दोनों हुए उदय हैं
दोनों हैं मन मे लिए जगत के कल्याण की कामना।
दोनों हैं तप से विशुद्ध महिमाशाली विशालव्रती
दोनों का विमल प्रकाश यश भी आश्चर्य से है सना ॥ २ ॥

बुद्धिप्रेरयिता जगत्प्रसविता नेता नियन्ता पिता
कर्ता वासर वर्ष मास ऋतु का धाता समुद्भासिता।
जो मार्तण्ड रहा कहीं उदय के अज्ञात उद्योग में
विश्वव्याप्त अखण्ड तेज उसका ब्रह्माण्ड मे है लसा ॥ ३ ॥

गोप्ता गो श्रुति साधु का शमयिता अन्याय का ताप का
शास्ता दुर्जन-दस्यु का नमयिता उद्दण्ड का चाप का।
मानी सूर्य-समान जो सुरथ भी एकान्त था साधता
शोभा से उसके महामुदित सी है आर्यभू गर्विता ॥ ४ ॥

दुष्टों के दल से अमात्य-छल से दुर्नीति दुर्भाग्य से
त्राता है जिसके महामुनि गुरु ज्ञानी सुमेधा व्रती।
श्रद्धा से जिसकी हुई भगवती प्रत्यक्ष विश्वेश्वरी
तेजस्वी उस भूप से सुरक्षित है विश्वंभरा सम्प्रति ॥ ५ ॥

भयावहा यद्यपि कालिकोपमा
रणस्थली है रिपुमुण्डधारिणी।
सुतृप्त है पाकर रक्त राष्ट्र से
वही स्वयं राष्ट्रसमृद्धि-कारिणी ॥ ६ ॥

अनेक जैसे पशु काट यज्ञ में
दिये गये दानव युद्ध में बलि।
अखण्ड पृथ्वी तब आर्यदेश की
अजेयदुर्गा स्वयमेव हो चली ॥ ७ ।

कुचक्रिणी दानवराज्य-यन्त्रणा
उसी महासमर-यज्ञ में जली।
चली गई भारत से प्रताडिता
अनार्यता दस्यु-कुजाति-मण्डली ॥ ८ ॥

सभीत सूर्योदय में उलूक से
स्वदेश के शत्रु विलीन हो चले।
अनेक जो श्वान-समान दीन थे
विपक्ष के जूठन से कहीं पले॥ ६॥

विदेहजा उज्ज्वल सी चिताग्नि में
मखाग्नि में दक्षसुता महासती।
रणाग्नि में दग्ध समस्तकिल्विषा
हुई पुनः संस्कृत आर्य-संस्कृति॥ १०॥

अतीत की विस्मृत आर्यचेतना
नवीन सी होकर राष्ट्र में जगी।
स्वतन्त्रता के उस वर्तमान में
भविष्य के उन्नतिकार्य में लगी॥ ११॥

रची सभी को अपनी चरित्रता
सुकर्म से दूर हुई दरिद्रता।
स्वदेश में सन्मति विश्वमित्रता
हुई तपःपूत पुनः मनुष्यता॥ १२॥

पवित्र यज्ञाहुति से गतज्वरा
हुई प्रजा भी निज-शक्ति-निर्भरा।
प्रयत्न से निर्मित भूरि उर्वरा
अबाधिता तस्कर-दस्यु से धरा॥ १३॥

विनम्र शाखा फल-पुष्प-भार से
नदी हुई भूषित सिन्दुवार से।
विभासित व्योम शुचि प्रकाश से
तडाग भी शोभित हंसवाम से ॥ १४ ॥

यही पुन वायु सुगन्धवाहिनी
सुहव्य से पावक तृप्त हो चले।
प्रशस्त गोजाति हुई पयस्विनी
घरों घरों मे घृत के दिवे जले ॥ १५ ॥

दिशा हुई गुञ्जित शखनाद से
सरस्वती मण्डित वेदवाद से।
सुवृत्त सरक्षित राजधर्म से
हुए पुन दण्डित पाप धर्म से ॥ १६ ॥

समाधि को शान्ति मिली विरक्ति मे
न मोह था आत्मज वित्त दार से।
विमुक्त भी हो वह विश्वजाल से
अदूर था किन्तु परोपकार से ॥ १७ ॥

नहीं उसे है भय दु खयोग का
न भोग की है उपलब्धि-कामना।
दसों दिशाएं सुखरूप हो चलीं
हुई सभी मे जय आत्मभावना ॥ १८ ॥

सुरथ भूपति भी यति तुल्य ही
निरत है न किसी सुखभोग में ।
अनुग होकरके मनुमार्ग का
अवनि के रत है हितयोग में ॥ १६ ॥

न मृगयाव्यसनी न दुरोदरी
न गणिका-प्रणयी न अपव्ययी ।
वह महीप मही पर धन्य है
अरिविदारण में रण में जयी ॥ २० ॥

सुखित है रहता जन-सौख्य से
असुख से जन के दुख-पात्र है ।
सहज बन्धव है निज राष्ट्र का
वह न केवल शासक मात्र है ॥ २१ ॥

सरल धारण है सित छत्र का
कठिन है न किरीट सँभालना ।
अधिक दुष्कर है पर अन्य को
सुरथ-सा नृपतिव्रत पालना ॥ २२ ॥

सुमत से गुरुदेव महर्षि के
नृपति के जनमान्य विचार से ।
भुवनभासित भारत हो चला
अमित वैभव वृद्धि उदार से ॥ २३ ॥

प्रथित आर्यधरा पर शाश्वती
उदय देख विशेष विभूति का।
अमर भी सब विस्मित गा चले
गुणमयी यह भारतगीतिका ॥ २४ ॥

जय विभासित-वेदविभाकरे!
सतत-शोभित-शास्त्रसुधाकरे!
जय सनातन-संस्कृति भास्वरे!
जननि! भारतवर्ष-वसुन्धरे! ॥ २५ ॥

मधुर गाङ्ग सुधाजल निर्झरे!
कुमुद पङ्कज-मञ्जु सरोवरे!
चलितवेग महानद दुस्तरे!
जय तरङ्गित भीषण सागरे! ॥ २६ ॥

अचल कानन गुम्फित गह्वरे!
विपुल-तुङ्ग-महीरुह-भूधरे!
प्रबलसिंह-निनादित-कन्दरे!
जय महाघन गर्जित कुञ्जरे! ॥ २७ ॥

कल विहङ्गम भृङ्ग रव-स्वरे!
द्रुम-लता फल पुष्प मनोहरे!
हरित-शाद्वल-सस्य-वराम्बरे!
जय सुवर्णधरे! रजताकरे! ॥ २८ ॥

रत्ननिजवस्तु-महाधनशालिनी
रुचिररूप-सुगन्ध-रसालिनी।
गुणवती　　गृहमङ्गल-मालिनी
जयतु चारु पुर ब्रतपालिनी ॥ २९ ॥

त्रिविधतापहरे!　　करुणाकरे!
अखिल-तृप्तिकरे!　रचिताध्वरे!
सबल-कोटिभुजे!　जयदायिनी!
जय सदा शिवयोग विधायिनी!॥ ३० ॥

है स्वर्ग तो अशिव नश्वर भोगभूमि
है निन्द्य ही नरक केवल दुःखभूमि।
है एक तू परम पावन मुक्तिभूमि
निश्चभरा सुकृतसाधन-कर्मभूमि ॥ ३१ ॥

तप अधिक न जाने क्या नरों ने किया है
इस मुनिजनभू मे जन्म कैसे लिया है?
शिवपद-अनुरागी हैं यहा धन्यभागी
अविरत रहते निष्काम-कर्मानुरागी ॥ ३२ ॥

गतिरहित जहा हो कर्म की पुण्यधारा
विष विषय यहा है गेह है बन्ध-कारा।
हम सुखित सुरों के स्वर्ग को भूल जाय
इस ऋषिकुल-भू मे ही पुनर्जन्म पाये ॥ ३३

चकित विश्व पुन कहने लगा
अभय जागृत भारतदेश है।
भगवती यह भूमि शिवप्रिया
अतुल अद्भुत सृष्टि विशेष है॥ ३४॥

अखिलभुवनमाता है सदा जो जगाती
अतुलित महिमा से विश्व में संघशक्ति।
अविरत उस देवी की कृपा आर्यभू के
जन-गण मन में दे सर्वदा देशभक्ति॥ ३५॥



एकविंश सर्ग

मार्कण्डेय पुराण पूर्वयुग का जो वृत्तविस्तार है
दुर्गासप्तशती चरित्र उसके सदेश का सार है।
आर्यों का यह शक्तिमन्त्र जनता जागति का पाठ है
श्रद्धा से करते मनुष्य इसका लाखों सदा पाठ है॥ १॥

श्रीमेधा मुनि से मिला सुरथ को जो शक्ति का ज्ञान है
देवी के यह दिव्य भागवत मे पूरा उपाख्यान है।
है शक्तित्रय-भासिनी यह कथा अज्ञानसंहारिणी
दुष्टों के दमनार्थ युक्ति इसमे है भारतोद्धारिणी॥ २॥

इस चिरायुप-शक्तिरहस्य में
कुछ अलौकिक भाव सुगूढ है।
लख नहीं सकता इस नेत्र से
भगवतीमहिमा जन मूढ है॥ ३॥

यह कथानक विस्तृत शुभ्र भी
अकथनीय अचिन्त्य विचित्र है।
रुचिर किन्तु नहीं कविलेखनी
रच सकी कवितामय चित्र है॥ ४॥

निरधिकार महाकविकर्म में
यदि नहीं जँचता कवि मन्द है।
पर नहीं कुछ उत्सुक गूँजता
सुरभि का गुण कौन मिलिन्द है?॥ ५॥

यदि नहीं कविकर्म अदोष है
तदपि शक्तिकथा यह शुद्ध है।
निकट आकर के सुरसिन्धु के
सलिल पंकिल भी अति शुद्ध है॥ ६॥

त्रिविध पातकपुञ्ज विनाशिनी
त्रिपथगा यह शक्तिकथा-त्रयी।
अति पुरातन है पर भासती
भुवनपावन नित्य नई नई॥ ७॥

सुरथ की यह कीर्ति-तरङ्गिणी
तरल होकर शक्ति-तरङ्ग से।
रण-सुसज्जित सी चतुरङ्गिणी
चल रही दृढ वीर-उमंग से ॥ ८ ॥

सुचिर काल रही अवरुद्ध सी
गहन पावन संस्कृत देश में।
वह चली अब नूतन छन्द से
सुगम सुन्दर विस्तृत देश में ॥ ९ ॥

द्रुतविलम्बित है बहती कहीं
ललित भी गति है गहती कहीं।
मिल चुके कितने गण वर्ग हैं
रच लिये इसने निज सर्ग हैं ॥ १० ॥

अधिक ओज कहीं रस अल्प है
पर कहीं वह शान्त अगाध है।
निगम-कूल-नियन्त्रित मार्ग से
वह रही यह मुक्त अबाध है ॥ ११ ॥

यह पुरातन भी निज मार्ग को
समय देख कहीं यदि मोड़ती।
अचल पूर्ण सनातन लक्ष्य से
पर कदापि नहीं मुख मोड़ती ॥ १२ ॥

क्षण जहां अवगाहन मात्र से
मिल सके कुछ उज्ज्वल भावना ।
विफल है उसमें कविदृष्टि से
कुपित हो गुणदोष-विभावना ॥ १३ ॥

यह न नूतन अन्धसुधार है
विकृतमानस का न विकार है ।
यह सनातन सत्य विचार का
मधुर भारत संस्कृति सार है ॥ १४ ॥

यह न केवल शक्तिनिबन्ध है
यह न केवल काव्य प्रबन्ध है ।
यह न केवल वीरचरित्र है
रुचिर भारत का यह चित्र है ॥ १५ ॥

यह न पश्चिम का रुचिवाद है
क्षणिक शुष्क यहां न विवाद है ।
भगवती यह जागृत-शक्ति का
अमय-पूरित शंखनिनाद है ॥ १६ ॥

यह किसी न निरंकुश धृष्ट का
कुमतिकल्पित मत्त अलाप है ।
यह किसी न पलायित भीरु का
करुण अप्रिय दैन्य-विलाप है ॥ १७ ॥

द्रवित है यह मानव-ताप से
पर अशक्ति दानवचाप से।
भरित है यह भारतवर्ष के
चिर यशस्कर कार्यकलाप से ॥ १८ ॥

ललित है कवि की न यहां कला
सरस है न अलङ्कृत कल्पना।
हृदय में इसके शुचि भाव से
फलित है यह केवल कामना ॥ १९ ॥

अटल सुरथ जैसे वीर हों स्वाभिमानी
प्रबल रिपुदलों को शक्ति से जो भगा दें।
गुरु कुशल सुमेधा हों जनभ्रान्तिहारी
कठिन समय में जो देशनिद्रा जगा दें ॥ २० ॥

हो राष्ट्र में उदय शाश्वत दिव्यशक्ति
दे विश्व को अभय दूर करे प्रमाद।
जागर्ति शान्ति-जय हेतु दिशा दिशा में
गूंजे पवित्र उसका यह शङ्खनाद ॥ २१ ॥

पूर्णमिदम्

[illegible]
बीकानेर